विधि एवं समाज के मूल सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF LAW AND SOCIETY)

एस के पुरोहित
प्राध्यापक (विधि संकाय)
जोधपुर विश्वविद्यालय

पी जी थानवी
एम ए, साहित्य रत्न

उषा पब्लिशिंग हाउस
जोधपुर - जयपुर

उपा थानवी
सचालिका
उपा पब्लिशिंग हाउस
मीम स्ट्रीट, पीर मोहल्ला
जोधपुर

शाखा :
माधो बिहारीजी का बाग
स्टेशन रोड
जयपुर

लेखकगण

प्रथम सस्करण, 1975
द्वितीय सशोधित एव परिवर्तित सस्करण, 1978

मुद्रक :
सुबोध प्रिंटर्स
जोधपुर

विधि एव समाज के मूल सिद्धान्त
PRINCIPLES OF LAW & SOCIETY

प्रथम सस्करण की भूमिका

आधुनिक शिक्षा समाज की दिनोदिन की बढती जटिलताओ एव दैनिक जीवन की यान्त्रिकता की समस्याओ से शिक्षार्थी समुदाय ग्रस्त न हो यह एक अनिवार्य सत्य है। परिणामस्वरूप अध्ययन के विस्तार और घनत्व से विद्यार्थी शुन्य हो जाता है और उचित मार्गदर्शन के अभाव मे भटक कर निराश होता जाता है।

वर्तमान समाज की मानवीय स्थिति काफी उलझनपूर्ण बन रही है। समाज, मनुष्य और विधि का पारस्परिक व अनिवार्य सम्बन्ध अब विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। समाज और विधि की पारस्परिक सम्पूरक प्रवृत्ति को देखते हुए प्रख्यात शिक्षाविद् प्रो वी वी जॉन (भू पू उप कुलपति, जोधपुर विश्वविद्यालय) की सद्‌प्रेरणा से इस विषय का पठन पाठन कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। छात्रो ने भी समुचित उत्साह प्रदर्शित कर इस विषय के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व को प्रमाणित किया। खेद की बात यह रही कि किसी समीचीन व उत्कृष्ट पाठ्य-सामग्री का अभाव छात्रो को प्राय खटकता रहा। अतएव इस क्षति की पूर्ति करने हेतु ही इस पुस्तक की सृजना हुई।

पुनश्च डॉ लक्ष्मणसिंह राठौड, अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग (जोधपुर विश्वविद्यालय) के आशीर्वचन एव सत्परामर्श की रचनात्मक उपलब्धि की परिणति है यह कृति। 'धन्यवाद' एव 'कृतज्ञता ज्ञापन' की औपचारिकता मे आशीर्वाद की गरिमा को सीमित करना दुस्साहस होगा।

आशा है पाठको की आकाक्षा पूर्ण करने मे यह रचना समर्थ होगी।

लेखकगण

द्वितीय सस्करण की भूमिका

विधि और समाज के सिद्धान्त के प्रथम सस्करण को पाठको एव विद्यार्थियो ने आशातीत रूप से अपनाया। इस कारण अल्पकाल मे ही द्वितीय सस्करण प्रस्तुत करना पडा। इसके लिए हमे बडा हर्ष है। प्रस्तुत सस्करण को भाषा एव विषय की दृष्टि से भी और सशोधित कर दिया है। आशा है सशोधित रूप मे पुस्तक पाठको के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

जोधपुर, 26-1-78 लेखकगण

PRINCIPLES OF LAW AND SOCIETY

The concept of Law Meaning of law, sources of law, kinds of law, goals and uses of law, relationship between the law and the society

The purpose of Law Law as a means of progressive civilisation, law and social justice, law and morality, law and liberty, law and public opinion

The State Meaning characteristics, functions and importance, various theories about State's functions, State and Society—a study of inter relationship

Sovereignty Meaning and characteristics, Legal, political and popular sovereignty, Austin's legal theory of sovereignty and its limitations

Legislature Functions unicameral and bi cameral legislatures, utility of the second chamber

Citizenship Meaning and characteristics, acquisition and loss of citizenship the ideal citizenship

Theories of Rights Various theories of rights—the rights of an individual in a democratic state, duties of an individual towards the state and society

The Society Origin and growth, the purpose of social organisation different kinds of societies

Social Change Processes of culturing change the social effects of innovation, social disorganisation—meaning and factors, society and adjustment

—

9040

अनुक्रमणिका

471
1983

—

विधि की अवधारणा
(The Concept of Law)

"राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदेश ही कानून होता है ।"

ऑस्टिन[1]

कानून बाह्य कार्यों से सम्बन्धित वे सामान्य नियम हैं जो राजनैतिक प्रभुसत्तात्मक शक्ति द्वारा लागू किये जाते हैं और जिन पर आचरण करने के लिए मनुष्यों को बाध्य किया जाता है। कानून का आकार मानवीय जीवन के प्रत्येक भाग में दृष्टिगोचर होता है। कानून मार्ग निर्देशन करने वाला, अपराधियों को दण्ड देने वाला, न्याय व्यवस्था को स्थापित करने वाला होता है। कानून समाज का न केवल नियन्त्रक है, बल्कि वह सयोजक भी है। कानून सांस्कृतिक तत्वों का भी सबसे बड़ा रक्षक है। कानून राजकीय प्रगति का सूचक, राज्य का आधार तथा सामाजिक सम्बन्धों का निर्णायक है। अतः कानून सर्वव्यापी है। मैकाइवर ने तो यहाँ तक कह दिया कि "कानून का शासन सर्वत्र है, विधि सर्व व्यापी है। जहाँ कहीं जीवन है वहाँ उसकी सर्वव्यापी विधियाँ है और प्रत्येक प्रकार के जीवन के अनुरूप उसकी अपनी विधियाँ भी है।"[2] इस प्रकार कानून का समस्त मानव जीवन पर सर्वत्र प्रभाव देखने को मिलता है।

कानून का अभिप्राय—

कानून शब्द की उत्पत्ति तथा इसके इतिहास की ओर ध्यान देते है तो ऐसा विदित होता है कि लगभग एक हजार ईसवी में अंग्रेजो ने यह शब्द स्कैंडीनेविया के आक्रमणकारियों से ग्रहण किया था। कानून शब्द की उत्पत्ति ट्यूटेनिक भाषा के 'Log' शब्द से हुई, जिसका तात्पर्य स्थिर या निश्चित होता है। इस प्रकार कानून अथवा लॉ से उस वस्तु का बोध होता है जो स्थिर एवं निश्चित हो।

---

1 Law is the Command of the Sovereign —Austin

2 Law in its broader significance reigns every where Where life exists there are Universal Laws of the life and for each form of life after its kind —MacIver

कानून के सामान्य निकाय के लिए लातीनी भाषा में Jus[1] (विधि) शब्द मिलता है, जो कानून शब्द से अधिक व्यापक है।

कानून का अर्थ जानने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कानून का आकार उसके कार्य उसका प्रयोजन उसका विकास आदि का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाय। ये सब विषय यदि कानून के प्रत्यय में सम्मिलित कर दिये जाय तो परिभाषा का रूप और भी विस्तृत हो जायेगा। यद्यपि कानून इतना विवाद ग्रस्त विषय रहा है कि उसकी सब सम्मति से परिभाषा देना अत्यन्त ही कठिन है। क्योंकि उनमें किसी विशेष पक्ष को उभारा जाता है। जैसे किसी कानून विशेषज्ञ ने कानून के आकार को महत्त्व दिया तो किसी ने उसके प्रयोजन को। कानून की परिभाषा को देखकर यह जाना जा सकता है कि कानून की परिभाषा देने वाले कानून विशेषज्ञ ने कौन से अंग को महत्त्वपूर्ण समझा है। कानून के विद्वानों ने 'कानून क्या है' यह बताने के लिए अपने अपने भिन्न भिन्न विचार प्रकट किये, फिर भी इसकी कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं दे सके। इसका मूल कारण यह है कि कानून के स्वभाव के विषय में प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण है, क्योंकि कानून प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है। व्यक्ति स्वयं के विचारों से प्रभावित होकर कानून के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण बनाते हैं। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि 'घोड़ा क्या है ?' वही कानून के बारे में भी कहा जा सकता है। मोरिस के कथनानुसार, यदि आप जानना चाहें कि 'घोड़ा क्या है? तो उसके अर्थ बहुत से निकलते है। जब घोड़े का अर्थ एक प्राणी विशेषज्ञ बतायेगा तो घोड़े को एक चौपाया पशु कह कर सम्बोधित करेगा। यदि एक यात्री से पूछने पर वह बतायेगा कि घोड़ा एक यातायात का साधन होता है। सामान्य व्यक्ति के लिए घोड़ा राजाओं की क्रीडा की सामग्री है। यदि शतरंज के खिलाड़ी से पूछा जाय तो उसका उत्तर होगा कि घोड़ा शतरंज का एक मोहरा होता है जो ढाई घर (स्थान) चलता है'। यही उक्ति कानून के बारे में भी कही जा सकती है।

प्रो० टी एर्न सप्र ने कहा था कि विधि के अर्थ के निर्धारण में सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि सभ्यता के विकास के हर स्तर पर विधिवेत्ताओं ने

---

1 Jus (विधि) को पालनीय अथवा बाध्य करने वाले उन नियमों का निकाय मानते हैं जिन्हें न्यायालय बाध्य मानते हैं तथा न केवल मानते हैं बल्कि उनको लागू भी करते हैं।—अर्नेस्ट बार्कर

तात्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप विधि के अलग अलग रूप [illegible] जिनसे विधि के विभिन्न स्वरूप प्रकट होते हैं।[1]

कुछ प्रमुख विद्वानों ने कानून की परिभाषा इस प्रकार से अभिव्यक्त की है -

कौटिल्य के अनुसार —'कानून सम्प्रभु की आज्ञा है'।

वेदों के अनुसार— 'कानून राजाओं का राजा है, उनसे [illegible] शक्तिशाली और कट्टर है"। **विलसन** ने कानून की परिभाषा इस [illegible] की है— "कानून, स्थिति, विचार तथा स्वभाव का वह अंश है, जिसे [illegible] करती हो"।

ऑस्टिन के अनुसार—"कानून उच्चतर व्यक्ति की [illegible] को दी गई आज्ञा है"।[2]

प्रो० सालमण्ड के अनुसार— "कानून नियमों [illegible] राज्य मान्यता देता है और न्याय व्यवस्था के प्रशासन [illegible]"।

ग्रीन के मतानुसार—"अधिकारों और [illegible] कानून कहा जा सकता है, जिसे सरकार लागू करती है'।[3]

गैटिल ने कानून की परिभाषा [illegible] एवं आदतों के उस भाग को कहते हैं, [illegible] या समर्थन, सामान्य नियमों के रूप में स्पष्ट [illegible]।

सेलिसबरी (Salisbury) के [illegible] वह [illegible] है जो शासक और शासितों दोनों में [illegible]।

ह्यू गोक्रेव ने कानून के [illegible] इसी प्रकार की है—"कानून [illegible] मानवों ने अपने निर्णयात्मक सदा [illegible]"।[4]

अरस्तु के अनुसार—"कानून ऐसा तत्व है जिस पर इच्छाओं का कोई प्रभाव नहीं होता।"

मैकमेवर के अनुसार कानून की परिभाषा इस प्रकार से है—'कानून समाज द्वारा वे निर्देश होते हैं जिनको मानने के लिए बाध्य किया जाता है और जिनका उल्लंघन हो जाने पर राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है।"

पाउण्ड के शब्दों में—"न्याय के प्रशासन में जनता और नियमित न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त या लागू किये गये नियमों को ही कानून कहा जाता है"।[1]

सर हेनरीमेन के अनुसार—"कानून की उत्पत्ति आदेश एवं शक्ति को ध्यान में रख कर हुई है।'

मांटेस्क्यू के अनुसार—' कानून मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार बने हैं। मनुष्य स्वभाव से उन नियमों का पालन करना चाहता है'। देवताओं के भी अपने नियम थे इसी प्रकार आज भी विश्व के भी अपने अपने कानून है। अतः मनुष्यों ने भी कानून का निर्माण किया है।

क्रुकनोव कानून की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "कानून शान्ति कायम करने वाले वे नियम है। जो व्यक्तियों एवं जातियों के बाहर पारस्परिक सम्बन्धों को स्थापित करते हैं"।

मेटन के अनुसार—'कानून की व्याख्या आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, समाज शास्त्रीय, राजनीतिज्ञ एवं वकील के दृष्टिकोण से की जा सकती है'। कानून का प्रयोग लक्षणों के अनुसार ही किया जा सकता है।

लास्की के अनुसार—"कानून केवल आज्ञा ही नहीं होते हैं। उनके मतानुसार कानून का पालन इसलिए नहीं होता कि वह किसी योग्य सत्ता द्वारा बनाया गया है, अथवा इसलिए कि उसका पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है। नैतिक रूप से वध होने के लिए कानून का जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला होना चाहिए"।

डिग्वी के मतानुसार—"कानून वह है जो सामाजिक सुदृढ़ता स्थापित करता है, तथा जो व्यक्तियों के अधिकारों की पूर्ति करके उसे समृद्ध बनाता है।

1 The body of Principles recognised and enforced by public and regular tribunals in the administration of Justice —Pound

उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि एकमत होकर किसी ऐसी परिभाषा का देना सम्भव नही है जो हर स्थान व हर काल की विधि के लिए उपयुक्त हो। समाज की आवश्यकताए बदलती रहती है तथा उसी के अनुरूप विधि के स्वरूप मे भी परिवतन होता रहता है। राजतन्त्र मे राजा की इच्छा कानून था तो प्रजातान्त्रिक युग मे प्रजा के प्रतिनिधियो द्वारा मानित एव निर्धारित नियम ही कानून होंगे।

विस्तृत अथ मे व नियम जो किसी भी राजनीतिक समाज मे उनके सदस्यो के आपस के या उनके अन्य व्यक्तियो के साथ के सम्बन्धो का सचालन करते हैं उन्हे कानून कहा जाता है। कानून समाज मे व्यक्तियो के बाह्य आचरणो का सचालन करने वाले नियमो के लिए निर्धारित सज्ञा है, जिन्ह राजसत्ता की ओर से वैधानिक मान्यता प्राप्त हो, जिनका निर्माण समाज की ऐतिहासिक परम्पराओ की अनुकूलता को ध्यान मे रखकर किया गया हो, जिनमे परिस्थितियो के अनुकूल विकसित होने की क्षमता हो, तथा जो समाज कल्याण के मापदण्ड पर खरे उतर सकते हो।

विधिशास्त्र के विभिन्न विचारको म सदैव मत वैभिन्य रहा है। प्रत्येक सिद्धान्त के समथक अपन अपने दृष्टिकोण से कानून के स्वरूप का निरूपण करने के लिए विभिन्न विचारधाराओ का प्रतिपादित किया जिनमे निम्नलिखित विचारधारा अत्यन्त महत्वपूण है—

1) विश्लेषणात्मक विचारधारा

इस विचारधारा का सबसे प्रबल प्रतिपादक ऑस्टिन हुआ है। उसन अपन विचार हॉब्स (Hobbes) तथा बैंथम Bentham) से ग्रहण किये। उसका कथन है कि नियम आदेश होता है जो बडे अधिकारी द्वारा छोट को दिया जाता है। विधि के उल्लघन पर दण्ड मिलता है। प्रत्येक विधि प्रभुसत्ता द्वारा जारी की जाती है। इस विचारधारा के अनुसार कानून का स्वरूप राजसत्ता की मान्यता पर आधारित है। राजसत्ता की मान्यता प्राप्त होने पर कोई भी साधारण से साधारण नियम कानून हो जाता है तथा बिना उसकी मान्यता के कोई भी महत्व-पूण से महत्वपूर्ण नियम कानून नही हो सकता।

इस विचारधारा का दृष्टिकोण कानून के प्रति विकासवादी नही है और कानून के क्षेत्र को राजसत्ता की मान्यता पर आधारित कर देने के कारण इस विचारधारा के अनुसार इसके अन्तगत ऐसी परम्पराओ के लिए कोई स्थान नही

रह जाता, जो राज्य की सर्वोच्च सत्ता के आदेश न होकर भी समाज म राजसत्ता द्वारा मा यता प्राप्त कानून की ही भांति आदर पाते हैं।

आस्टिन का यह सिद्धात केवल कानूनी सिद्धान्त है। उसके कथनानुसार राज्य म जो प्रभुशक्ति होती है वह एक व्यक्ति मे भी हो सकती है और समुदाय म भी हो सकती है। उस प्रभुसत्ता को विधित (dejure) अधिकार है कि वह आदेश दे। उसे यह भी अधिकार है कि अपने आदेशों के विरोध की दशा में दण्ड दे। किन्तु आस्टिन ने यह नही कहा कि विधित अधिकार (dejure rights) और वस्तुत अधिकार (defecto rights) एक ही है, उसने यह नही कहा कि किसी वस्तु के स्वरूप मे और उस वस्तु म कोई भेद नही है। सत्य यह है कि किसी राज्य म जब वहाँ की सरकार स्वेच्छाचारी होती है, प्रभुशक्ति की सीमाए जनमत से प्रभावित होती है। प्रभुसत्ता को जनमत की या विशेष प्रभावी व्यक्ति की बात को आशिक रूप से मानना पड़ता है।

(2) ऐतिहासिक विचारधारा—

कानून विषय की दूसरी विचारधारा जिसे ऐतिहासिक (Historical) अथवा विकासवादी (Evolutionary) विचारधारा कहा जाता है। इस विचार धारा का जन्म स्थान जर्मनी था। फ्रेडरिक वान सैवादनी (Frederick Von Savigny) इसके मुख्य प्रतिपादक हुए हैं। सर हेनरीमेन भी इस विचारधारा के प्रबल समर्थक रहे हैं। इस विचारधारा के अनुसार— 'कानून का स्वरूप राजसत्ता की मान्यता पर आधारित न होकर वह परिवर्तनशील, प्रगतिशील एव दीर्घकालीन सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप कानून का निर्माण होता है। इस विचारधारा के अनुसार रीतिरिवाज, परम्पराओं की स्वीकृति प्राप्त होने के पश्चात् कानून का रूप धारण किया जाता है।" वुडरो विल्सन के अनुसार "कानून सुस्थापित विचारधारा तथा अभ्यास का वह भाग है जो शासन की सत्ता की शक्ति द्वारा समर्थन प्राप्त करके औपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेता है।'[1] इसी प्रकार जेन (Zane) ने अपनी पुस्तक 'The Story of Law' म कहा है कि 'विधि का शासन इसलिए प्रचलित हुआ कि उसके प्रति प्राय सर्वसम्मति

---

1 Law is that portion of established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rule backed by the authority and power of Government —Woodrow Wilson

मौन सी हो रही है। जब बहुमत किसी के विरुद्ध रहता है तो विधि का शासन निरन्तर टिक नहीं सकता। ऐसी स्थिति विश्व के अनेक देशों में हाल ही में घटित हुई है, जिसने यह स्पष्ट कर दिया कि कैसा भी शासन, जिसकी जड़ें गत तक पहुँच गई हो उसको भी जनमत के आगे झुकना पड़ता है।

ऐतिहासिक विचारधारा के समर्थक यह मानते है कि विधियाँ स्वयं अधिनियमित हुई और स्वयं प्रकट हुई। कानून बनाना राज्य का काम नहीं है, उसका काम कानून को यथार्थ रूप में लागू करना है। कोई भी स्वेच्छाचारी व्यवस्थापिका सत्ता परम्परागत विधियों को न तो तोड़ सकेगी और न बदल सकेगी। किन्तु ऐतिहासिक एवं विकासवादी विचारक यहाँ भयंकर भूल कर बैठे है कि शासक वर्ग अपनी इच्छाओं को शासिता की इच्छाओं के अनुरूप बना लेते हैं और केवल आदेश देते है।

(3) समाजशास्त्रीय विचारधारा—

समाजशास्त्रीय (Sociological) विचारधारा जिसके अग्रणी ड्यूग्वी (Duguit) क्रैब (Krabbe) तथा लास्की (Laski) हैं। इनके मतानुसार कानून का निर्माण वास्तव में किसी संगठित समुदाय द्वारा नहीं किया गया समाज में ऐसी विशेष अभिकरण (Agencies) है जो नियम करके आज्ञाएं निकालती है, जिनकी आज्ञाएं समाज को माननी पड़ती है। ड्यूग्वी के अनुसार समाज में रहने वाले लोगों के आचरण के लिए निर्मित नियमों को कानून कहते है। उनका पालन इसलिए नहीं किया जाता कि वे आज्ञाएं है या उनके साथ दण्ड भी लगा है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ऐसे नियमों का पालन करे जिनसे सामाजिक जीवन में दृढ़ता मिलती है और ऐसे कार्यों से दूर रहे जो उसके विकास में बाधक है। क्रैब ने कानून की व्याख्या मूल स्रोत के आधार पर की है। "कानून उन साधारण या असाधारण नियमों का, लिखित या अलिखित कुल जोड़ है जो मनुष्यों के भावों या न्याय भावना के अनुभव से उत्पन्न होते हैं।"[1] उनके अनुसार कानून वास्तव में राज्य से ऊंचा और स्वतन्त्र है।

लॉस्की के अनुसार—कानून का स्रोत है व्यक्ति का स्वीकृति देने वाला मन। लोग कानून का पालन इसलिए करते है क्योंकि वह उनकी इच्छाओं की

---

1 Law is the sum total of all those rules, general or particular, written or unwritten, which spring from men's feelings of sense of right —Krabbe

पूर्ति करता है। इस प्रकार कानून का स्रोत व्यक्ति का अनुमति दाता मन,जो वास्तविक अर्थों में स्रोत कहा जाना चाहिये, निश्चित किया है। कानून का समाज से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और कानून का उद्देश्य सामाजिक हित साधन होता है, व्यक्ति के आचरण का कोई नियम जनता के नैतिक विश्वास के कारण तथा सामाजिक वातावरण के अनुकूल होने के कारण कानून का रूप धारण करता है, राजसत्ता का आदेश होने के कारण नहीं। इस प्रकार यदि कोई कानून जनता के नैतिक विश्वास के अनुकूल नहीं है अथवा सामाजिक वातावरण में ठीक नहीं बैठता तो उसे कानून की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिये। लॉस्की ने यहां तक कहा है कि "एक अच्छा कानून वही है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों की इच्छाओं का अधिक से अधिक सन्तुष्टिकरण हो सके। अच्छे कानून के अतिरिक्त किसी अन्य कानून का पालन औपचारिक रूप से भले ही हो जाय, वास्तविक रूप से वह पालन करने योग्य नहीं हो सकता।[1]

कानून क्या होता है अथवा उसका स्वरूप क्या है? उपरोक्त विचार धाराओं के अन्तर्गत कानून के स्वरूप के विषय में अवधारणा या मान्यता एकांगी ही रही है। उनमें से कोई पूर्ण रूप से सक्षम नहीं है, उनमें सत्य का अंश अवश्य ही स्पष्ट होता है। ये कानून की विभिन्न विशेषताओं को प्रकट करती हैं। विश्लेषणात्मक विचारधारा के अनुसार कानून के पीछे राजसत्ता की मान्यता होना आवश्यक है। ऐतिहासिक व विकासवादी विचारधारा के अनुसार, कानून का रूप स्थायी अथवा अप्रगतिशील नहीं हो सकता। समाजशास्त्रीय विचारधारा के अन्तर्गत राज्य को कानून की मान्यता उन्हीं कानूनों को देनी चाहिए जिनमें सामाजिक हितों की रक्षा होती हो। अतः हम कह सकते हैं कि कानून समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति के बाह्य आचरण के ऐसे नियमों के निकाय को कहते हैं जिन्हें राजसत्ता की ओर से संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो, जिन का निर्माण समाज की ऐतिहासिक परम्पराओं की अनुकूलता को ध्यान में रखकर किया गया हो, जिनमें परिस्थितियों के अनुकूल विकसित होने की क्षमता हो तथा समाज कल्याण के मापदण्ड पर खरे उतर सकते हो।

---

1 A good Law is a law which has as its results the maximum possible satisfaction of desires and no Law save a good Law is, except in a formal sens , entitled to Obedience as such
—Laski

कानून के तत्व—कानून की परिभाषाओं एव विचारधाराओं के विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि कानून में प्रमुख निम्नतत्व होते है

(1) कानून के लिए नागरिक समाज का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि समाज ही एक सुव्यवस्थित सगठन है और इस सगठन को सुचारू रूप से सचालन हेतु ही नियमो की आवश्यकता होती है।

(2) कानूनो के निर्माण तथा उनकी क्रियान्विति के लिए एक सम्प्रभुत्व पूर्ण सत्ता का अस्तित्व होना आवश्यक है।

(3) कानूनो का सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य आचरण से होता है, उनकी आन्तरिक भावनाओं से नही।

(4) नागरिको को कानून का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है, और कानून का उल्लघन करने पर वे राज्य द्वारा दण्ड के भागी होते हैं।

(5) कानून ऐसा होना चाहिए, जिनका पालन न केवल दण्ड के भय से वरन् सामाजिक हित की भावना से किया जाय।

इस प्रकार कानून एक निश्चित तथा उच्चतर मानव का आदेश मात्र नही होता, और न ही इसे स्थिर और मानव जीवन की आवश्यकताओं से पृथक ही किया जा सकता है। कानून की एक धारणा के अन्तगत यह स्वीकार करना पडेगा कि राजनीतिक शासक की सत्ता कानून को वैधानिक मान्यता प्रदान करती है परन्तु उसका यथार्थ स्वरूप देश के ऐतिहासिक वातावरण तथा समाज की नैतिकता का परिणाम होता है। कानून प्रगतिशील होता है और अपने आपको जनता के नैतिक आर्थिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण के अनुकूल बना लेता है। कानून का पालन करना अनिवार्य होता है और उस क्रियान्वित करने के लिए शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। यही कानून की सबसे बड़ी विशेषता है। परन्तु वास्तव मे, कानून का मुख्य पालन उसकी अनिवार्यता नहीं है, वरन् लोग कानून का पालन स्वेच्छा से ही किया करते है।

लास्की के अनुसार— कानून ही सामाजिक शान्ति का मूल उद्गम है। स्वतन्त्रता का मूल्य कानून द्वारा सुरक्षा है। कानून की अनुपस्थिति म राज्य बहुत ही कम समय तक जीवित रह सकता है। कानून के बिना समाज मे अराजकता फल जाती है। कानून समाज का न केवल नियत्रक है बल्कि वह सयोजक भी है। इसके द्वारा अधिकार और कर्तव्यो मे समन्वय स्थापित होता है। सार्वजनिक कल्याण प्राप्त करने का कानून महत्वपूर्ण साधन है। कानून राजकीय प्रगति का

सूचक, राज्य का आधार तथा सामाजिक सम्बन्धो का निर्णायक है। आधुनिक समाज की विषमताओ के कारण कानून की आवश्यकता और भी अधिक अनुभव होने लगी है"।

कानून की पृष्ठभूमि के अलावा कानून का अच्छा अध्ययन नही हो सकता बहुत से लोग सैद्धान्तिक उद्देश्य के नाम पर, विवेक के नाम पर, समानता और स्वतन्त्रता के नाम पर, समाज कल्याण के नाम पर, व्यावहारिक कानून के द्वारा हमारी परम्परा को बदलना चाहते हैं। कानून को लोक चेतना के स्तर से निकालना चाहते हैं। उसका स्वाभाविक रूप नष्ट कर उसे एक कृत्रिम रूप देना चाहते हैं, उसे हमारे राष्ट्र, समाज, रहन सहन आदि से विच्छेद करना चाहते है। तो हमे ऐसे लोगो से सतर्क रहना चाहिये, कही ऐसा ना हो की कानून के सुधार के नाम पर कानून का अर्थ ही बदल दिया जाय। क्योंकि कानून का पालन लोग स्वेच्छा से ही किया करते हैं।

अन्त मे कहा जा सकता है कि, राज्य रूपी समाज अपने सदस्यो के क्रिया-कलापो के लिए जो आचार संहिता तैयार करता है, उन्ही को कानून कहा जाता है। उक्त कानून की अवहेलना करने पर दण्ड की व्यवस्था राज्य की मशीनरी अर्थात् सरकार करती है। सरकार की शक्ति के पीछे राज्य की प्रभुत्व शक्ति का बल होता है। कानून बिना किसी भेदभाव के ऊपर समान स्थिति मे समान रूप से लागू होता है। अतः एक राज्य मे एक ही कानून संहिता चलती है अतः कहा जा सकता है कि कोई समुदाय बिना नियमो के नही रह सकता।

कानून का वर्गीकरण (Classification of Law)—

कानून की विस्तृत व्याख्याएं होने से विद्वानो ने कानून का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया है। कानून के विविध प्रकारो की अलग अलग व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है—

(१) **आदेशात्मक कानून**—आदेशात्मक कानून वे नियम कहलाते हैं जो किसी उच्च सत्ता द्वारा लागू किये गये हों, इसके पीछे शक्ति का प्रयोग होता है। चाहे वह शक्ति राजकीय हो या दैविक।

(२) **भौतिक और वैज्ञानिक कानून**—ये ऐसे कानून का रूप होते हैं जिनसे हमको प्रकृति की क्रियाओ का बोध होता है, जसे—गुरुत्वाकर्षण का नियम, रसायन प्रतिक्रिया का कानून, मानवीय शारीरिक क्रिया का कानून आदि।

(३) **प्राकृतिक या नैतिक कानून**—यूनानी और रोम के विचारक

प्रकृति को भी नैतिक सम्मत थे। उनके अनुसार प्राकृतिक अथवा नैतिक कानून के निम्न रूप होते हैं—

(i) दैविक कानून—जिनके द्वारा समाज को नतिक आदेश मिलते है जस चोरी करना पाप है।

(ii) अलिखित कानून—ये वे कानून होते हैं जो पत्थरो पर या धातुओ पर नही लिखे जाते, परन्तु प्रकृति द्वारा स्वत ही इनका प्रयोग करवाया जाता है। जिस विश्व के सभी भागो म मान्यता प्राप्त होती है। इसे शाश्वत कानून भी कहा जाता है। प्रथाओ द्वारा इसको परिवर्तित नही किया जा सकता है। इसे नैतिक कानून भी कहा जाता है।

(४) आचार या व्यवहार का कानून—ये वे कानून होते है, जिनका पालन हम अपने जीवन मे आचार और व्यवहार के रूप म करते हैं। जमे शिष्टाचार, वेशभूषा आदि।

(5) इनके अतिरिक्त राजनतिक (Political laws) कानून की व्याख्या एव वर्गीकरण प्रो० हालैंड ने कानून को दो हिस्सो मे विभाजित किया है, जिन्हें व्यक्ति गत कानून (Private Laws) और सावजनिक कानून (Public Laws) की सनाए दी है। एक अन्य वर्गीकरण कानूनो को राष्ट्रीय (National) और अन्तर्राष्ट्रीय नामक दो वर्गों म विभाजित करता है। विषय के आधार पर कानूनो का वर्गीकरण सावैधानिक (Constitutional) और साधारण (Ordinary) दो वर्गों म किया जाता है। परन्तु मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'The Modern State' म कानूनो का वर्गीकरण राष्ट्रीय (National , अन्तर्राष्ट्रीय (International), सवधानिक (Constitutional), और साधारण, सावजनिक (Public) और व्यक्तिगत तथा प्रशासनिक (Administrative), और सामान्य वर्गों म किया है। प्रो० गिलक्राइस्ट ने कानूनो का वर्गीकरण उनके उद्गमो क आधार पर किया है, और उन्हें सवैधानिक वैधिक (Statute), अध्यादेश (Ordinaces) सामान्य कानून (Common law), अन्तर्राष्ट्रीय कानून और प्रशासनिक वर्गों म विभाजित किया है। इस प्रकार कानून की तालिका देखने से पूर्ण ज्ञात हो जाता है कि कानून को दो वर्गों म विभाजित किया गया है – राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून। सामाजिक जीवन म कानून जनमत या राज्य द्वारा निर्मित किये जाते हैं। राज्य द्वारा क्रियान्वित किये गये कानून राजनतिक कानून कहलाते हैं।

इसके अतिरिक्त कानून का वर्गीकरण नवीन अर्थ में इस प्रकार किया जा सकता है।

(1) **दीवानी कानून** (सम्पत्तिगत कानून)—जो व्यक्तियों के पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यों की रक्षा करता है। दीवानी कानून कई प्रकार के होते हैं जैसे—संविदा कानून (Law of Contract) अतिकृत कानून (Law of Torts) सम्पत्ति कानून, उत्तराधिकार कानून, पारिवारिक कानून आदि।

(2) **सारभूत कानून**—अपराध और दूसरे दीवानी कार्यों की व्याख्या करता है और उनसे सम्बन्धित उपचार के अधिकार और कर्तव्यों को बताता है।

(3) **अपराध कानून**—शान्ति और शान्ति भंग करने के लिए व्यक्तियों को राज्य की तरफ से दण्डित किया जाता है। अपराधी को दण्ड उसके दोषों के अनुसार दिया जा सकता है।

राजनैतिक कानूनों का वर्गीकरण निम्न रूप से किया जा सकता है—

(1) **राष्ट्रीय विधि** (National law)—राष्ट्रीय कानून वे व्यावहारिक कानून होते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी एक राज्य की सीमा में रहने वाले निवासियों से होता है। ये कानून एक राज्य की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। इनकी पालना राज्य की सर्वोच्च सत्ता द्वारा की जाती है। राष्ट्रीय विधि को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **साधारण विधि** (Ordinary law)—नागरिकों के दैनिक जीवन एवं आचरण को नियमित करने वाले कानूनों को सामान्य नियम या साधारण कानून कहा जाता है। ये व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित होते या रीति-रिवाजों और परम्पराओं पर आधारित होते हैं। साधारण कानून को भलीभांति समझने के लिए इसे सार्वजनिक और व्यक्तिगत कानूनों में विभाजित किया जा सकता है। साधारण नियम राज्य के साथ नागरिकों के सम्बन्धों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करता है। न्यायालय केवल साधारण नियमों का अनुसरण ही करते हैं। सरकार साधारण कानून के अनुसार ही अपनी आज्ञाएं पालन कराती है।

(क) **सार्वजनिक कानून** (Public law)—सार्वजनिक कानून व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को नियमित करता है। यह राज्य के संगठन और उसके कार्यों और नागरिकों के साथ राज्य के सम्बन्धों का वर्णन करता है। मैकाइवर के अनुसार—"सार्वजनिक कानून समाज की उचित व्यवस्था करता है,

कानून का वर्गीकरण
(Classifications of law)

कानून (Law)

- राष्ट्रीय कानून (National law)
  - साधारण कानून (Ordinary law)
    - सार्वजनिक कानून (Public law)
      - शासन सम्बन्धी (Administrative)
      - सामान्य (General)
        - संसदीय कानून (Statutes)
        - अध्यादेश (राज्याज्ञा) (Ordinaces)
    - व्यक्तिगत कानून (Private law)
  - वैधानिक कानून (Constitutional law)
    - लिखित (Written)
    - अलिखित (Unwritten)
- अंतर्राष्ट्रीय कानून (International law)

राज्य की रक्षा करना उसका मुख्य ध्येय नहीं है। सार्वजनिक कानून राज्य के विरुद्ध नागरिको के अधिकारो की भी रक्षा करता है। यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक विधि की अवज्ञा करता है तो राज्य उसको दण्ड देता है"।

सार्वजनिक कानून को आगे चलकर प्रशासन सम्बन्धी कानून (Administrative law) और सामान्य कानून (General law) मे बाँटा जा सकता है। प्रशासकीय नियम, राज्य कर्मचारियो के राज्य के साथ सम्बन्धो को निश्चित करता है। ये वे नियम हैं जो राज्य के सभी कर्मचारियों के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का निश्चित करते हैं। यह सार्वजनिक कानून का वह भाग है जो सगठन का इढ करता है, और राज्य के प्रबन्ध अधिकारियो की जाँच करता है, और उनके अधिकारो के भग होने पर अपनाये जाने वाले व्यक्तिगत उपायो की ओर निर्देश करता है। **प्रशासन सम्बन्धी कानून फ्रांसीसी न्याय व्यवस्था की एक प्रमुख यता रही है।** जब कोई राज्य कर्मचारी अपने अधिकारो का उल्लघन करता है या उसका मनमाना उपयोग करता है, तब उसके विरुद्ध आरोप की सुनवाई साधारण विधि के अन्तर्गत साधारण न्यायालयो म न होकर प्रशासनिक विधि के अन्तर्गत वहा के न्यायालयो म होती है।

सामान्य कानूनो के अन्तर्गत वे कानून आते हैं जिनका निर्माण नागरिको के पारस्परिक व्यवहार तथा उनके और राज्य के मध्य के सम्बन्धो का नियमन करने के लिए किया जाता है। इसके अनेक भेद होते हैं–संविधि (Statute), अध्यादेश (Ordinaces), दृष्टान्त (Case law), प्रथागत विधि (Common law), आदि। ससदीय कानूनो का निर्माण राज्य के विधानमण्डल द्वारा व्यवस्थापन की साधारण प्रक्रिया के अनुकूल होता है। अध्यादेश उन कानूनो को कहा जाता हैं, जिनका निर्माण कार्यकारिणी द्वारा विशेष परिस्थितियो पर नियन्त्रण रखने के लिए किया जाता है। यद्यपि ये कानून दीर्घायु नहीं होते, परन्तु इनका मूल्य उतना ही होता है जितना कि विधानमण्डल द्वारा बनाये गए कानून का होता है। प्रथागत कानून (Common law) ये देश मे प्रचलित रीति रिवाज और परम्पराओ का ही विकसित रूप होते हैं और न्यायालय इन्हें मान्यता देकर कानून का रूप प्रदान करते हैं। इगलैंड मे कानून के विकास मे रीति रिवाजो ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। इसलिए वहा कामन ला काफी प्रचलित है।

(२) संवैधानिक कानून (Constitutional laws)—सांवैधानिक कानून द्वारा सरकार का ढाचा निश्चित किया जाता है और जिसके द्वारा राज्य के ि नागरिको के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का विश्लेषण किया जाता है। सांवैधानिक

मूल कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे ऐसी कोई सम्प्रभु शक्ति नहीं होती जो आदेश दे सके और जिसकी आज्ञा सब शिरोधार्य करते हों। इसके विपरीत ओपिन हेम (Oppenheim), फैनविक (Fenwick), ग्रोशियस (Grotius) आदि इसे पूर्ण रूप से कानून की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार—

(i) मनुष्य केवल दण्ड के भय से कानूनों का पालन नहीं करता अर्थात शक्ति ही केवल कानून का लक्षण नहीं है।

(ii) जिस प्रकार कानून की व्याख्या हम समाज के अन्तर्गत मानव आचरणों के नियमों के रूप में व्याख्या करते हैं, उसी प्रकार हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या नियमों के उस समूह के रूप में करते हैं जिनके द्वारा राष्ट्रों के बाह्य आचरण का संचालन होता है।

(iii) जिस प्रकार कानून के पीछे जन स्वीकृति होती है, उसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के पीछे जन स्वीकृति या राष्ट्रीय स्वीकृति होती है।

(iv) जिस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानून भंग किये जा सकते हैं उसी प्रकार से राष्ट्रीय कानून भी भंग किये जाते हैं।

(v) राष्ट्रीय कानूनों को तोड़ने पर दण्ड मिलता है, उसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को भंग करने वाले राष्ट्रों के विरूद्ध भी अन्य राष्ट्र कार्यवाही कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे विश्व जनमत, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा विश्व शांति की इच्छा तथा उपयोगिता आदि का प्रमुख हाथ होता है।

सामण्ड के अनुसार विधि के भेद

(1) आदेशात्मक विधि (Imperative Law)—सामण्ड के अनुसार विधि का तात्पर्य ऐसे नियम से होता है, जो लोगों पर किसी ऐसी सत्ता द्वारा लागू किये जाते हैं जिसका लोग आज्ञा पालन करते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आदेशात्मक विधि एक आदेश है या आदेश के रूप में नियम है जो कि किसी श्रेष्ठतम शक्ति (Superior Powers) द्वारा कार्यान्वित की जाती है। आस्टिन के अनुसार विधि द्वारा व्यक्ति का आचरण निर्धारित होता है।

आदेशात्मक विधि के निम्नलिखित भेद हैं—

(i) आदेशात्मक विधि राज्य द्वारा लागू की जाती है। इस प्रकार की विधि नागरिक विधि भी कहलाती है।

कानून साधारण कानून से भिन्न होते है। सावैधानिक कानून लिखित अथवा अलिखित दोनो रूपो में हो सकता हैं। सावैधानिक कानून ससद जैसी किसी सभा के वाद विवादो का परिणाम भी हो सकते हैं, इतिहास की उपज या विकास द्वारा उत्पन्न अथवा रीति रिवाजो तथा न्यायाधीशो द्वारा दिये गये निर्णयों का समूह मात्र भी हो सकते हैं।

नागरिक कानून (Municipal law)—सावजनिक(Public) और व्यक्तिगत (Private) कानूनो को मिलाने से नागरिक कानून कहे जाते है। यद्यपि ये राष्ट्रीय कानूनो की ओर निर्देश करते है। नागरिक या राष्ट्रीय विधि के विपरीत दूसरी विधियाँ भी है जो राज्य के आपसी सम्बन्धो का नियमन करती है। ऐसी विधि को अन्तर्राष्ट्रीयविधि कहा जा सकता है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International laws)—विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्ध को नियमित करने वाले कानूनो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते है। लॉरेंस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा इस प्रकार से व्यक्त की है—"वे नियम जो सभ्य राष्ट्रो के समुदाय के पारस्परिक व्यवहारो में उनके आचरण का निर्धारण करते हैं"।

ओपेनहेम (Oppenheim) के शब्दो में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा इस प्रकार से है—"अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रथाओ और परम्पराओ का वह समूह है जो सभ्य राष्ट्रो द्वारा अपने आपसी सम्बन्ध में कानूनी तौर पर बाध्य समझा जाता है"।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून की भाँति बाध्यकारी शक्ति प्राप्त नहीं हुई है और इनके पीछे केवल सबसे बडी शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की है। अत कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानन को क्या कानून की सज्ञा दी जा सकती है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। आस्टिन वयम हॉलैंड आदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून की सज्ञा नहीं देते। ऑस्टिन उसे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (International morality) कहते हैं। हॉलैंड उसे 'न्याय शास्त्र का विलोपबिन्दु' कहकर पुकारते हैं।[2] लारेंस ने भी इसे सच्चा कानून नहीं माना है। इसका

1 International Law is the name for the body of customary and conventional rules which are considered legally binding by civilized States in their intercourse with each other

2 International Law is the vanishing point of jurisprudence
—Hol

(peacefully), (iv) एक निरन्तर चलने वाली परम्परा, (v) स्मृति के परे (since immemorial antiquity), (vi) अधिकार स्वरूप (as of right), (vii) सविधि की सगति म (In conformity with Statute Law)। इस ग्रथ मे परम्परागत विधि नागरिक विधि का हिस्सा नही है। सामान्य ग्रथ म नागरिक विधि अलग किस्म का कानून है। उपरोक्त बातें नागरिक विधि के स्रोत हैं। सामण्ड ने कहा है कि परम्परागत विधि नागरिक विधि का अग नही है बल्कि सामान्यतया यह एक भिन्न विधि है।

(6) व्यवहारिक या तकनीकी विधि (Practical or Technical Law)—इसके अन्तगत वे नियम आते हैं जो किसी निश्चित ध्येय को प्राप्त करने के लिए हम क्या करना चाहिये का ज्ञान कराते है। इस प्रकार के नियमो मे स्वास्थ्य, सगीत शैली, शिल्पकला तथा अन्य प्रकार की कला एव व्यवसाय सम्बन्धी नियम होते है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे वे सिद्धान्त सम्मिलित किये जाते है जो सभी स्वतन्त्र राष्ट्रो के बीच लागू होते है। ओपेनहीम (Oppenheim) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन परम्परागत तथा सप्रतिनात्मक नियमो के समूह का नाम है जिसे सभ्य राष्ट्र अपने पारस्परिक व्यवहार को चलाने के लिए वधानिक रूप से मानने को बाध्य होते हैं। जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि नतिक विधि या परम्परागत विधि या सप्रतिज्ञात्मक विधि का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण म योगदान है उसी तरह आदेशात्मक विधि के योगदान का भी दावा किया जाता है लेकिन पूर्ण रूप से इनम से किसी भी एक विधि का योगदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण म नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि दो भागो मे विभाजित की जा सकती है—

(i) सावजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Public International Law)

(ii) वयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Private International Law)

सावजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि सब जगह चलती है और वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि कुछ राज्यो और कुछ राजनीतिक क्षेत्रो मे ही लागू होती है। इसलिए वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्थान स्थान पर भिन्नता पूर्ण होती है।

(8) नागरिक विधि (Civil Law)—सामण्ड के अनुसार नागरिक विधि राज्यो की विधि है या किसी देश की विधि है या वकीलो एव अदालतो की

प्राकृतिक विधि यूनानी दर्शन से उत्पन्न हुई है। रोमवासियों ने प्राकृतिक न्याय को Jus Naturale कहा है। इस विधि के और भी नाम है–

(i) दैवी विधि (Jus divinum)– इसे मनुष्य पर लागू किये जाने वाला ईश्वर का आदेश कहा गया है,

(ii) तर्क की विधि (Law of Reason)– यहाँ पर तर्क से तात्पर्य है जो विश्व को नियन्त्रित करता है,

(iii) अलिखित विधि (Jus nonscriptum)– यह विधि न तो किसी धातु की चट्टानों पर लिखी गई है और न पत्थर के खम्भों पर वरन् यह मनुष्य के हृदय पर प्रकृति की उंगलियों द्वारा लिखी गई है

(iv) इसे सामान्य भौमिक विधि या कामन लॉ भी कहा जाता है, क्योंकि यह विधि सभी जगह एक जैसी है

(v) इसे शाश्वत विधि (Eternal Law or Lex aeterna) भी कहते हैं क्योंकि जब से संसार की रचना हुई है तब से आज तक इसका रूप नहीं बदला है,

(vi) नैतिक विधि (Moral Law) चरित्र सम्बन्धी सिद्धान्तों को कायम करती है।

(4) सम्प्रतिज्ञात्मक विधि (Conventional Law)– सम्प्रतिज्ञात्मक विधि का तात्पर्य उन नियमों की प्रणाली से होता है जो लोगों द्वारा आपस में एक दूसरे द्वारा एक दूसरे के प्रति अपने व्यवहार को चलाने के लिए स्वीकार की जाती है। यह विधि राष्ट्रों के बीच या व्यक्तियों के बीच किये जाने वाले समझौते पर आधारित होती है।

(5) परम्परागत विधि (Customary Law)— सामण्ड (Salmond) के विचार से परम्परागत विधि का तात्पर्य उन नियमों से होता है जिन्हें लोग वास्तव में अमल में लाते हैं। ये मनुष्य के स्वेच्छिक कार्यों की वास्तविक एकरूपता को प्रकट करते हैं। ऐसे नियम राज्य द्वारा मनुष्य पर लागू नहीं किये जाते व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से ही इन नियमों को स्वीकार करता है। इस प्रकार की विधियों में व्यवहार एवं शिष्टता सम्बन्धी नियम आते हैं। परम्परागत विधि में निम्नलिखित गुणों का समावेश होना आवश्यक है—

(i) तर्क पूर्ण (Reasonable) (ii) पीढ़ी दर पीढ़ी से अमल में लाया जाने वाला (Unambigous usage), (iii) शांति रूप से,

(peacefully), (iv) एक निरन्तर चलने वाली परम्परा, (v) स्मृति के परे (since immemorial antiquity), (vi) अधिकार स्वरूप (as of right), (vii) सविधि की सगति म (In conformity with Statute Law)। इस अथ म परम्परागत विधि नागरिक विधि का हिस्सा नही है। सामान्य अथ म नागरिक विधि अलग किस्म का कानून है। उपरोक्त बातें नागरिक विधि के स्रोत हैं। सामण्ड ने कहा है कि परम्परागत विधि नागरिक विधि का अग नही है बल्कि सामान्यतया यह एक भिन्न विधि है।

(6) व्यवहारिक या तकनीकी विधि (Practical or Technical Law)—इसके अन्तगत व नियम आते है जो किसी निश्चित ध्येय को प्राप्त करने के लिए हमे क्या करना चाहिये का ज्ञान करात हैं। इस प्रकार क नियमा मे स्वास्थ्य, सगीत शैली, शिल्पकला तथा अन्य प्रकार की कला एव व्यवसाय सम्बन्धी नियम होत है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि म वे सिद्धान्त सम्मिलित किये जाते है जो सभी स्वतन्त्र राष्ट्रा के बीच लागू होते हैं। ओपेनहीम (Oppenheim) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन परम्परागत तथा सप्रतिज्ञात्मक नियमा के समूह का नाम है जिसे सभ्य राष्ट्र अपने पारस्परिक व्यवहार को चलाने के लिए वधानिक रूप स मानने को बाध्य हाते हैं। जसे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, नतिक विधि या परम्परागत विधि या सप्रतिज्ञात्मक विधि का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण म योगदान है उसी तरह आदेशात्मक विधि के योगदान का भी दावा किया जाता है लेकिन पूण रूप से इनम से किसी भी एक विधि का योगदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण म नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि दो भागो म विभाजित की जा सकती है—

(i) सावजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Public International Law)

(ii) वैयतिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Private International Law)

सावजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि सब जगह चलती है और वयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि कुछ राज्यो और कुछ राजनीतिक क्षत्रा म ही लागू हाती है। इसलिए वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्थान स्थान पर भिन्नता युक्त हाती है।

(8) नागरिक विधि (Civil Law)—सामण्ड क अनुसार नागरिक विधि राज्या की विधि है या किसी देश की विधि है या वकीलो एव न्यायालया की

विधि है। सामण्ड पुन कहते हैं कि विधि का निर्माण नागरिक विधि से ही हुआ है।

नागरिक विधि अन्य विधियों से अवश्य ही भिन्न हैं। इसको विशेष विधि (special law) भी कहते है। यह विशेष विधि विशेष परिस्थितियों में लागू होती है। विशेष विधि का सहारा लेकर ही अदालतों में नागरिक विधि लागू होती है। नागरिक विधि ही विधिशास्त्र की अध्ययन सामग्री है, लेकिन सामण्ड के अनुसार विशेष विधि ऐसे नियमों द्वारा बनी होती है कि वह सामान्य विधि के क्षेत्र से बिल्कुल ही परे मालूम होता है। सुस्पष्ट विधि स्थानीय विधि (Municipal Law) एवं राष्ट्रीय विधि (National Law) का सम्बन्ध नागरिक विधि से होता है।

इस प्रकार सामण्ड ने उपरोक्त विधि के भेद स्पष्ट किये हैं। सामण्ड के अनुसार सभी भेदों में परस्पर सम्बन्ध होता है और विधि किसी भी भाग में आ सकती है।

विधि के स्रोत (Sources of Law)—

आधुनिक समाज में प्रत्येक कार्य मुख्य रूप से विधि द्वारा सचालित होता है। विधि को राज्य कार्यपालिका न्यायालय तथा स्वायत्त शासन की विविध संस्थाओं द्वारा लागू किया जाता है। इतना ही नहीं विधि कई प्रकार की होती है। एक विधि तो व्यवस्थापिका द्वारा पारित होती है, दूसरी न्यायालयों के निर्णयों से पनपती है तीसरी समाज में प्रचलित स्रोतों से व्यक्त होती है और चौथी मनुष्य की अपनी तार्किक शक्ति पर आधारित रहती है। इस प्रकार विधि के विभिन्न स्रोत होते हैं।

विधि के स्रोत का अर्थ (Meaning of the Sources of Law)—

विचारकों ने विधि के स्रोत के विषय में भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए हैं। यदि कोई इसका तात्पर्य उन सत्ताओं (Authorities) से लगता है जिनसे विधि की उत्पत्ति हुई है तो दूसरा इसका अर्थ उन कारणों से लगाता है जिनके कारण विधि का निर्माण किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इसका तात्पर्य विधि के विभिन्न रूप समझते है तो दूसरे विधि को लागू करने वाली विभिन्न संस्थाओं का। यदि विनोग्रेडाफ विधि के स्रोत का अर्थ विधि के विकास की क्रिया मानते हैं तो ओपनहीम इसे ऐतिहासिक तथ्य समझते है। हिन्दू शास्त्र के विद्वान् इसका तात्पर्य विधि ज्ञान के स्रोत से लेते हैं।

ऑस्टिन के विचार से विधि राज्य के प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान की आज्ञा होती है। एलेन, आस्टिन के इस विचार से अपनी असहमति दिखाते हुए कहते है कि परम्परागत विधियाँ यद्यपि प्रधान की आज्ञा नहीं होती, फिर भी पूर्णरूप से विधियाँ ही होती है। उनके विचार से कामन विधि परम्परागत विधि, न्यायिक निर्णय की विधि सम यान्य आदि भी विधियाँ ही हैं।

ऑस्टिन के अनुसार विधि के स्रोत

(Sources of Law according to Austin)—

ऑस्टिन ने विधि के स्रोत के तीन अर्थ लगाए हैं —

(1) प्रत्यक्ष निर्माता (Direct or Immediate Author)–इस दृष्टि से विधि का स्रोत व व्यक्ति होते हैं जिनसे विधि निकलती है। इस प्रकार की विधि चार प्रकार के स्रोतों से निकलती है—

(i) व्यवस्थापिका या न्यायपालिका के रूप में कार्य करने वाले प्रधान से।

(ii) व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के रूप में कार्य करने वाले राजनीतिक अधीनस्थ से।

(iii) उन व्यक्तियों से जिनके व्यवहार से प्रथाए बनती हैं।

(iv) समझौता द्वारा एक दूसरे के प्रति कार्य करने की प्रतिज्ञा करने वाले व्यक्तियों से।

आस्टिन के अनुसार, इस रूप में विधि, निर्माता से ही निकलती है। ये समस्त विधियाँ राज्य के प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान से निकलती है। परन्तु उपर्युक्त चार प्रकार के व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इसी प्रधान से विधि-सृजन का अधिकार प्राप्त करते है। अतएव ये व्यक्ति विधि के निर्माण के प्रत्यक्ष स्रोत होते है। आस्टिन इन अधीनस्थ व्यक्तियों को आलंकारिक रूप में विधि का स्रोत मानते है। वह इन लोगों की तुलना पानी को सुरक्षित रखने वाले तालाबों से करते हैं जो अपना जल तो किसी प्रमुख जल स्रोत से प्राप्त करते हैं परन्तु निकालते हैं अपने कोष से।

(2) ऐतिहासिक साक्ष्य (Historical Documents) इस दृष्टि से विधि के स्रोत वे ऐतिहासिक साक्ष्य होते हैं, जिनमें विधि निकलती है। इस प्रकार के साक्ष्यों में जस्टीनियन का रोमन विधि का संग्रह' तथा ब्रैक्टन (Bracton), कोक (Coke) एवं लिटिलटन (Littleton) के लेख इत्यादि

आते हैं जिनसे इगलैंड की विधि विकसित हुई है। सामण्ड इस प्रकार के स्रोत को साहित्यिक स्रोत कहते हैं।

(3) कारण (Causes) इस दृष्टि से विधि का स्रोत कुछ ऐसे कारण होते हैं जिनसे विधि निकलती है। ये कारण विधान, निर्णय, प्रथाएँ, धर्म तथा समन्याय आदि हो सकते हैं।

हालण्ड के अनुसार विधि के स्रोत
(Sources of Law according to Holland)

हालण्ड के विचार से विधि के चार स्रोत होते हैं

(1) इसका तात्पर्य उन क्षेत्रों से होता है जिनसे हम अपने विधि-सम्बंधी ज्ञान को प्राप्त करते हैं जैसे विधि की पुस्तकें, व्याख्याएं तथा आलोचनायें आदि।

(2) इसका तात्पर्य उन सत्ताओं से भी होता है जो विधि को शक्ति प्रदान करती है, जैसे राज्य इत्यादि।

(3) इसका तात्पर्य उन कारणों से भी होता है जिनके कारण विधि का निर्माण किया गया है, जैसे प्रथाएं धर्म आदि।

(4) इसका तात्पर्य उन संस्थाओं से भी होता है जिनके द्वारा या तो राज्य स्वयं पहले से ही प्रचलित अधिकारहीन नियमों को मान्यता प्रदान करता है या नई विधि का निर्माण करता है जैसे निर्णय, समन्याय तथा विधान इत्यादि।

सामण्ड के विचार से विधि के स्रोत
(Sources of Law according to Salmond)

सामण्ड के विचार में विधि के दो स्रोत होते हैं—

(1) औपचारिक स्रोत (Formal Sources)

(2) भौतिक स्रोत (Material Sources)

(1) औपचारिक स्रोत (Formal Sources)—ये वे स्रोत होते हैं जिनसे विधि अपनी शक्ति या वैधानिकता प्राप्त करती है। इसका तात्पर्य राज्य की इच्छा या शक्ति से होता है जो राज्य के न्यायालयों द्वारा शक्ति होती है। राज्य की इच्छा तथा शक्ति के अनुसार न्यायालय जिस विधि को लागू करते हैं वे विधियाँ ही वास्तविक विधि होती है। सामण्ड यहाँ इस बात पर जोर देते हैं कि किसी नियम को विधि होने के लिये यह आवश्यक है कि पहले नियम न्यायालयों द्वारा स्वीकार किया जाय। परन्तु अन्य लेखकों ने सामण्ड के इस विचार को

4/1
1983

आलोचना करते हुए कहा है कि यदि कोई नियम संसद द्वारा विधि बना दिया जाता है तो उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह न्यायालय द्वारा स्वीकार भी किया जाय। यहां पर ऐसा आभास होता है कि सामण्ड ने विधि के स्रोतो का अर्थ विधि की अनुशास्ति (Sanction) से लगाया है।

(2) भौतिक स्रोत (Material Sources)—इस प्रकार के स्रोतो से विधि केवल अपनी वैधानिकता ही नहीं प्राप्त करती वरन् उन पदार्थों को भी प्राप्त करती है जिनसे इसका निर्माण होता है। इस प्रकार के स्रोतो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—ऐतिहासिक स्रोत तथा वैधानिक स्रोत।

(i) ऐतिहासिक स्रोत (Historical Sources)—ऐतिहासिक स्रोतो के पीछे कोई वैधानिक मान्यता नहीं होती। इस प्रकार के स्रोत अप्रत्यक्ष रूप से विधि के स्रोत के रूप में कार्य करते है। न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय इसी प्रकार के स्रोत होते हैं। उनमे विधि के लेखको के ग्रन्थ भी सम्मिलित होते हैं। ये स्रोत वैधानिक विकास को प्रभावित करते हैं और इस प्रकार विधि निर्माण के लिए सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ये स्रोत वैधानिक स्रोतो की पृष्ठभूमि के रूप से कार्य करते हैं।

(ii) वैधानिक स्रोत (Legal Sources)—ये स्रोत राज्य की सत्ता से निस्सृत होते हैं और इनको न्यायालय द्वारा मान्यता भी प्रदान की जाती है। इस प्रकार के स्रोतो के बारे मे सामण्ड लिखते है कि वैधानिक स्रोत ही ऐसे द्वार होते हैं जिनके माध्यम से नये सिद्धान्त प्रवेश करके विधि का स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं। ये विधि के प्रत्यक्ष स्रोत होते हैं। इनमे चार प्रकार के स्रोत सम्मिलित हैं—

(i) विधान (Legislation)—इस प्रकार की विधियाँ राजनीतिक समाज की उस सत्ता-सम्पन्न शक्ति द्वारा घोषित की जाती है, जिसे न्यायालय विधि का स्रोत मानते हैं।

(ii) पूर्वोक्तियाँ (Precedents)—ये विधियाँ न्यायालय द्वारा निर्णय देते समय स्वीकार की जाती हैं।

(iii) परम्परागत विधियाँ (Customary Law)—इस प्रकार की विधियाँ उन प्रथाओ से उत्पन्न होती हैं जो कि विधि व्यवहार के नियम के रूप मे स्वीकार की जाती हैं।

(iv) सप्रतिज्ञात्मक विधि (Couventional Law)—इस प्रकार की विधिया लोगो द्वारा आपस म किये गये समझौता से निकलती है।

9040

इस प्रकार सामण्ड के विचार से उपयुक्त चार प्रकार की विधियाँ ही विधि का प्रमुख स्रोत होती है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की विधियाँ विधि का स्रोत तो अवश्य होती हैं परन्तु वे न्यायालयों द्वारा मान्यता नहीं प्राप्त करतीं। अतएव उन्हें विधि के स्रोत के रूप मे नहीं लिया जा सकता।

कीटन के अनुसार विधि के स्रोत
(Sources of law according to Keiton)

कीटन पहले तो सामण्ड के विभाजन की आलोचना करते हैं और तदुपरान्त अपने विचार से विधि का विभाजन करते हैं। उनका कहना हैं कि सामण्ड का वह विभाजन कि विधि के स्रोत औपचारिक भी होते हैं, पूर्णतया गलत है। कीटन के मतानुसार आधुनिक समुदायों मे विधि का औपचारिक स्रोत केवल राज्य होता है। राज्य ही केवल विधि को लागू करता है विधि का वास्तविक स्रोत नहीं होता। इसके अतिरिक्त सामण्ड विधि के साहित्यिक स्रोत' की भी आलोचना करते हुए कीटन ने बतलाया है कि वे स्रोत वास्तव में विधि का ज्ञान प्राप्त करने के स्रोत होते हैं। वे न तो विधि को जन्म देते हैं और न विधि इनसे प्रारम्भ ही होती है। कीटन के अनुसार विधि के निम्नलिखित स्रोत हैं—

(1) बन्धनकारी स्रोत (Binding Sources)—इस प्रकार के स्रोत न्यायाधीशों को अपनी स्वेच्छाचारिता का प्रयोग करने से रोक देते हैं। इनकी संख्या तो बहुत निश्चित् होती है परन्तु फिर भी वे बन्धन-सदृश एवं निश्चित् होते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(i) परम्परागत विधियाँ (Customary Law)
(ii) विधान (Legislation)
(iii) न्यायिक पूर्वोक्तियाँ (Judical precedents)

(2) प्रभावकारी स्रोत (Persuasive Sources)—इस प्रकार के स्रोत नैतिकता तथा परिस्थितियों की विलक्षणता पर आधारित होते हैं। न्यायालय ऐसे स्रोतों को उसी समय मान्यता प्रदान करते हैं वह उनके विरोध में कोई बन्धनकारी स्रोत उपलब्ध नहीं होता इस प्रकार के स्रोतों में वे स्रोत भी सम्मिलित होते हैं जिन्होंने बन्धनकारी स्रोतों के निर्माण के लिये पृष्ठभूमि तयार की है। इनमें प्रमुख रूप से दो प्रकार के स्रोत होते हैं—

(i) नैतिकता या समन्वय सम्बन्धी सिद्धान्त।

(ii) व्यावसायिक अभिमतियाँ (Professonal opinions)

विधि के अन्य स्रोत (Other Sources of Law)

उपयुक्त स्रोतों के अतिरिक्त विधि के कुछ अन्य स्रोत भी होते हैं। ऐतिहासिक विधिशास्त्रियों के अनुसार इन स्रोतों में प्रमुख समाज में प्रचलित प्रथाएँ होती हैं। इन प्रथाओं से ही विधि के विभिन्न स्रोतों की उत्पत्ति होती है। इनका कहना है कि आधुनिक समाज में प्राप्त समस्त विधान उन्हीं परम्परागत सिद्धान्तों से निकले हैं। इसी प्रकार समाजशास्त्रीय विधिशास्त्रियों का भी कहना है कि आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक तत्वों के प्रभाव से ही विधि की उत्पत्ति होती है। अतएव ये विभिन्न तत्त्व ही विधि के प्रमुख स्रोत होते हैं। अर्थशास्त्री विधिशास्त्रियों का कहना है कि विधि का स्रोत मनुष्य की तार्किक वृद्धि होती है। कुछ लोग इसे ईश्वर की कृति भी मानते हैं, परन्तु ये सब विचार अब बहुत ही आदिकालीन विचार माने जाते हैं, और विधि का स्रोत किसी एक वस्तु को न मानकर विभिन्न वस्तुओं को माना जाता है।

प्रथाएँ विधि के स्त्रोत के रूप में
(Customs as a source of law)

"प्रचलन और लोकरीतियों के रूप में नियमों का विकास निसन्देह विधि के निर्माण की सबसे प्राचीन प्रणाली रही है। यह नैतिकता और विधि के बीच संक्रमण है। नैतिकता तथा उसका पालन करवाने वाली राजकीय संगठन की शक्ति से प्रथागत विधि का निर्माण होता है।[1] 'वर्तमान समाज में प्रथायें विधि के अनेक कार्यों को करती हैं। समाज के प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में विधि का निर्माण सम्भव नहीं है। अब विधि के अनेक कार्यों को प्रथा द्वारा किया जाता है। प्रथाओं को भी विधि की भाँति मान्यता प्राप्त रहती है। इससे अनेक विधियाँ भी प्रथाओं पर आधारित होती हैं, जिन्हें प्रथागत विधि कहा जाता है।

1 Holland Usage, or rather the spontaneous evolution by the popular mind of rules the existance and the general acceptance of which is proved by their customary observance is no doubt the oldest form of law making It marks the transition between morality and law Morality plus a state organization enforcing part of it is customary law"

—Salmond

रीतिरिवाज कानून का प्राचीनतम तथा महत्वपूर्ण स्रोत है। रीति-रिवाजों का निर्माण नहीं होता, बल्कि उनका धीरे-धीरे विकास होता है। ये समाज के वे प्रचलित नियम होते हैं, जिन्हें समाज के सभी लोग लम्बे समय से मानते चले आ रहे हैं। इन रीतिरिवाजों के पीछे सामाजिक संगठन का नियन्त्रण तथा समाज का नैतिक बल रहता है। जब ये समाज में अधिक प्रचलित हो जाते है, तब राज्य द्वारा उन्हें कानून का रूप दे दिया जाता है। इस प्रकार समाज के प्रचलित रीतिरिवाज कानून का रूप धारण कर लेते हैं, और उन्हें प्रथागत कानून कहा जाने लगता है। इंगलैंड जैसे प्रगतिशील राष्ट्र में तो संविधान का आधार ही रीतिरिवाज है। रोम में ट्वेल्व टबुल्स (Twelve Tables) और भारत में वेदों को कानूनों का प्रथम स्रोत माना जाता है। मनु के अनुसार—"श्रुति, स्मृति और सदाचार के साथ साथ आत्म प्रेरणा या आत्मतुष्टि भी कानून का स्रोत है।" राज्य की वैधानिक व्यवस्था में रीतिरिवाजों का महत्व स्पष्ट करते हुए मैकाइवर ने लिखा है कि, "कानून के विशाल ग्रन्थ में राज्य केवल कुछ ही नये वाक्य लिखता है और कहीं-कहीं एकाध पुराने वाक्य काट देता है। इस ग्रन्थ के अधिकांश भागों की रचना में राज्य का कभी कोई हाथ नहीं रहा है, फिर भी राज्य स्वयं इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से मर्यादित होता है।" इसका तात्पर्य यह है कि कानून का बहुत सा भाग प्रथाओं और परम्पराओं के आधार पर निर्मित हो गया है। अतः परम्पराएं ही कानून के स्रोतों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

यदि आस्टिन प्रथा को विधि का स्रोत न मानकर केवल विधि निर्माण का कारण मानते हैं, तो एलेन इसे विधि का प्रमुख स्रोत ही मानते हैं। इसी प्रकार के मतभेद के कारण इस विषय से सम्बन्धित तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं—

(1) कुछ लोगों के विचार से प्रथा विधि का प्रमुख स्रोत होती है।

(2) अन्य लोगों के विचार से प्रथा न्यायालयों द्वारा लागू की जाने वाली समस्त विधियों का—जैसे विधान, न्यायिक पूर्वोक्तियाँ तथा प्रथागत विधि का स्रोत होती है, क्योंकि सारी विधियाँ सार्वजनिक चेतना तथा विश्वास से निकलती हैं और प्रथा पूर्णतया उसी पर आधारित होती है।

(3) कुछ अन्य लोगों के विचार से प्रथा विधि की स्रोत नहीं होती। यह केवल विधि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन या विधि के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए साक्ष्य ही होता है। यह विचार जर्मनी में प्रचलित है।

प्रथागत विधि की मान्यता के कारण

(Reasons for the reception of customary)

प्रथागत विधि को मानने के निम्न कारण हैं—

(1) प्रथा राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित करने वाले सिद्धान्तों का साकार रूप होती है। अतएव यह सार्वजनिक चेतना की अभिव्यक्ति होती है। सार्वजनिक चेतना न्याय तथा उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। इसको व्यक्त करने वाली प्रथा भी न्याय, उपयोगिता तथा औचित्य को ही परिलक्षित करती है। इसके अतिरिक्त न्यायालय भी न्याय, औचित्य तथा उपयोगिता सम्बन्धी सार्वजनिक विचारों को अपने निर्णयों का आधार बनाते हैं अतएव वे प्रथा का पालन करना आवश्यक समझते हैं। सामण्ड इसी कारण कहते हैं कि जो महत्त्व विधि का राज्य के लिये है, वही प्रथा का समाज के लिए। दोनों औचित्य तथा न्याय को ही व्यक्त करते हैं। जब राज्य न्याय की स्थापना करना चाहता है तो वह समाज में प्रचलित औचित्य सम्बन्धी नियमों का ही जो प्रथा का आधार होते हैं, सत्य एवं वैधानिक मानकर लागू करता है।

(ii) प्रथा को न्यायालय इस कारण भी मान्यता प्रदान करते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास होता है कि यह भविष्य में भी बनी रहेगी। सामण्ड के विचार से प्रथा चाहे मौलिक रूप में न्यायसंगत तथा तर्कसंगत न भी हो, या चाहे यह प्रमाणित किया जा सके कि इसे स्थापित करने में राष्ट्रीय चेतना ने गलती की है, या चाहे न्यायालय उस प्रथा की अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण नियमों को भी प्रतिपादित कर सकें, फिर भी न्यायालयों के लिए यही उचित है कि वे इसे स्वीकार करें और इस प्रकार निरंतर चली आने वाली परम्परा पर अपनी आशायें आधारित रखने वाले व्यक्तियों को निराश न करें।

(iii) प्रथा को इस कारण भी माना जाता है क्योंकि यह समाज में अधिकांश व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक व्यवहार में पालन की जाती है। जैसे विनिमय पत्रों (Bills of Exchange) पर लोग तीन दिनों की छूट (Grace) देते हैं, अतएव यह प्रथा अब विधि सी बन गई है।

(iv) प्रथा का आधारभूत यह सिद्धान्त होता है कि लोग पहले से ही प्रचलित प्रथा को उचित समझते हैं। यह धारणा इतनी गहरी जम जाती है कि लोग किसी विरोधी विधान के अभाव में हानिकर प्रथा को भी मानते रहते हैं।

(v) प्रथा इसलिए मानी जाती है क्योंकि यह बहुत दिनों से समाज में प्रचलित रहती है। लोगों की यह धारणा बन जाती है कि जो कुछ बहुत दिनों से होता चला आ रहा है वह विधि ही है और सैकड़ों वर्षों से मानी जाने वाली प्रथा का उल्लंघन विधि का उल्लंघन है। इस आधार पर भी प्रथाओं को मान्यता प्राप्त होती है।

धर्म विधि के स्रोत के रूप में

(Religion as a source of Law)

कानून के विकास में धर्म का स्थान भी बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। धर्म ने प्रत्यक्ष रूप से भी कानून को जन्म दिया है। प्राचीन समय में ईश्वर को ही समस्त सत्ता और कानून का उद्गम माना जाता था। प्राचीन समाज में धर्म तथा कानून इतने घुले मिले थे कि जीवन के सभी नियमों के पीछे धार्मिक मान्यता का बल पाया जाता था। विल्सन के अनुसार—"रोम की प्रारम्भिक विधि शास्त्रगत धार्मिक नियमों के संग्रह अथवा धार्मिक सिद्धान्तों के उचित पालन द्वारा धार्मिक अधिकार प्राप्त करने के साधनों की व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी।" आज भी हिन्दुओं की विधि मनु की व्यवस्था के आधार पर तथा इस्लामी विधि शरीयत के आधार पर टिकी हुई है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "विधि की प्रवृत्ति पश्चिम में राजनीतिक रूप धारण करने की ओर पूर्व में धार्मिक रूप ग्रहण करने की रही है।"

न्यायिक पूर्वोक्तियाँ (Judicial Precedents)—न्यायिक पूर्वोक्तियाँ भी विधि के स्रोत की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रायः विभिन्न देशों के उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालयों द्वारा विभिन्न नियमों का विवेचन तथा प्रतिस्थापन किया जाता है। यह विवेचन तथा प्रतिस्थापन, उन न्यायालयों द्वारा भविष्य में दिए जाने वाले निर्णयों तथा अधिनस्थ न्यायालयों द्वारा दिए जाने वाले निर्णयों के लिए बन्धनकारी प्रभाव रखते हैं। ये नियम धीरे-धीरे न्यायिक पूर्वोक्तियों का रूप धारण कर लेते हैं और न्यायालयों के लिए विधानों की भांति ही मान्य होते हैं।

आज भी न्यायिक निर्णय कानून के विकास में पर्याप्त सहायक होते हैं। न्यायाधीश विधि की व्याख्या करते समय जाने अनजाने में नये कानून के निर्माण का कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य अमरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने तो अपनी व्याख्या की शक्ति द्वारा संविधान में पर्याप्त परिवर्तन कर दिये हैं। जस्टिस

होल्मस (Holmes) के अनुसार, "न्यायाधीश कानून बनाते हैं और उनको इसका अधिकार भी है।" अलिखित संविधानो मे तो न्यायिक निर्णय ही कानून के सबस बडे स्रोत होत हैं। न्यायालयो की व्याख्याए (Inter-pretations) एव उसकी व्यवस्थाए (Ruling) अधिकारपूर्ण मानी जाती है। उनका प्रयोग कानून की ही तरह होता है। न्यायाधीशो द्वारा बनाए गये कानूनो को Case Law अथवा Judicial Precedents के नाम से पुकारते हैं।

न्यायिक पूर्वोक्तियो का अर्थ (Meaning of Judicial Precedents)—पूर्वोक्ति का अभिप्राय एस काय तथा कथन स है, जिसके द्वारा बाद म दिया जान वाला व्यवहार निर्धारित होता है। अत न्यायिक पूर्वोक्तियो का अभिप्राय न्यायालयो द्वारा दिए गए उन निर्णया स है जो कि एक ही प्रकार की घटनाओ मे तद्नुकूल निर्णय देने के लिए बन्धनकारी प्रभाव रखती हैं। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित विधिशास्त्रियो का विवेचन उल्लेखनीय है—

(1) सामण्ड (Salmond)—के विचार से "न्यायिक पूर्वोक्ति न्यायालय का निर्णय होती है जिसमे एक सिद्धात निहित होता है। निर्णय मे इस प्रकार निहित होने वाला सिद्धान्त, जो कि निर्णय का बन्धनकारी तत्त्व होता है, निर्णयाधार (Ratio decidendi) कहलाता है। निर्णय दोनो दलो के बीच बन्धनकारी प्रभाव रखता है, परन्तु इस निर्णय का निर्णयाधार (Ratio decidendi) स्वत समस्त ससार के लिए विधि की शक्ति रखता है।"[1] इस प्रकार न्यायिक पूर्वोक्तिया न्यायालयो द्वारा निर्धारित वे सिद्धात होती हैं जो बाद मे अन्य अभियोगो म लागू होती हैं। न्यायिक निर्णय केवल उसी समय पूर्वोक्ति का महत्व रखते हैं जब वे किसी नये नियम का निर्माण करते हैं अन्यथा वे दो दलो के बीच लागू होने वाले निर्णय ही रहते हैं। इस प्रकार निर्मित नियमो को बेन्थम "न्यायाधीशो द्वारा निर्मित नियम" (Judge made Law) कहते हैं, परन्तु बेन्थम के इस विचार की लोगो ने आलोचना की है। उनका कहना है कि बेन्थम का

---

1 "A precedent is a judicial decision which contains in itself a principle The underlying principle which thus forms its authoritative elements is often termed the ratio decidendi The concrete decision is binding betw en the parties to it, but it is the abstract ratio decidendi which alone has the force of law as regards the words at large"

यह शब्द विधि का निर्माण करने वाले व्यक्ति पर विधि निर्माण की प्रणाली को अपेक्षाकृत अधिक जोर देता है। इसके अतिरिक्त यह राज्य के उच्च एवं उच्चतम न्यायालयों द्वारा बनाये गए नियमों व विधानों को भी जोड़ देता है। आस्टिन इस प्रकार नियमों के लिए "व्यवस्थापिका के नियम" (Judiciary Law) का प्रयोग करते हैं।

(2) कीटन (Keeton)—कीटन (Keeton) का कहना है कि "न्यायिक पूर्वोक्तियाँ न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय होते हैं जिनके साथ कुछ बहुत सत्ता जोड़ दी जाती है।"[1] ऐसा प्रमुख रूप से इस कारण होता है क्योंकि न्यायाधीशों को राजनीतिक एवं सामाजिक संगठनों में ऊँचा स्थान प्राप्त होता है और अंशतः इस कारण ही न्यायाधीश विवादों का निपटारा हैं।

गेटेल के अनुसार, "राज्य की आवश्यकता विधि निर्माता के रूप में नहीं, बल्कि रीतिरिवाजों की व्याख्या करने वाले और उन्हें लागू करने वाले के रूप में हुई।"[2] गिलक्राइस्ट के अनुसार—"अदालती नजीरें (Judicial Precedent) पहले मौखिक होते थे, फिर वे परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होने लगे और अन्त में उन्हें लिखा जाना शुरू हो गया।"

न्यायिक पूर्वोक्तियाँ विधि के स्रोत के रूप में (Judicial Precedents as a Source of Law)

विधि समुदाय की सामान्य चेतना का स्थूल रूप होती है। समुदाय अपनी सामान्य चेतना को अपने न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णय में व्यक्त करता है। इन न्यायाधीशों द्वारा दिये गये निर्णय विवाद को निपटाने के साथ ही साथ कुछ सामान्य सिद्धान्तों को भी परिलक्षित करते हैं। ये परिलक्षित सिद्धान्त न्यायालयों के लिए विधि का कार्य करते है। न्यायालयों की इसी प्रथा को न्यायिक पूर्वोक्ति(Judicial precedent) कहते हैं। न्यायालय के निर्णय विधान के स्रोत होते हैं या नहीं, इस विषय में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्त प्रचलित हैं—

---

1 "A judicial precedent is a judicial decesion to which authority in some measure has been attracted." —Keeton

2 The State arose not as the creator of law but as the interpreter or enforcer of customs. —Gettle

(1) पहले सिद्धात के प्रतिपादको का कहना है कि न्यायालय के निर्णय उन अभावो की पूर्ति करते हैं जो विधानो एव विधि सहिताओ की धाराओं के बीच छूट जाते हैं।

(2) दूसरे सिद्धात के समर्थको का कहना है कि जब विधान विधि के समस्त क्षेत्र को सम्मिलित नही कर पाते तो इस आवश्यकता की पूर्ति न्यायालय द्वारा निर्धारित न्यायिक पूर्वोक्तिया करती हैं।

इन दोनो सिद्धातो मे भेद यह है कि पहला सिद्धांत न्यायिक पूर्वोक्तियो को विधाना का पूरक मानता है, और दूसरा सिद्धांत उन्हे विधानो का सहचर मानता है।

न्यायिक पूर्वोक्तियाँ आज से ही नही, वरन् आदिकाल से ही विधि की प्रमुख स्रोत रही हैं। बेबीलोन मे हम्मूराबी के शासन काल के पूर्व ही न्यायिक निर्णयो को भविष्य के निर्णयो के लिए विधान का महत्व प्रदान किया जाता था। इसी प्रकार चीन मे भी न्यायिक निर्णयो को वधानिक महत्व प्रदान किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि म तो न्यायिक निर्णय बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इगलैंड तथा अमरीका मे न्यायिक निर्णया को पूर्णतया विधि का ही स्थान प्राप्त है। सामण्ड कहते हैं कि इङ्गलैण्ड की कामन विधि का निर्माण न्यायाधीशो के निर्णयो से हुआ है।

न्यायिक निर्णयों की प्रणालिया (Methods of Judicial Decisions)—एलेन के अनुसार निर्णय देने के लिए न्यायालय निम्नलिखित दो विधियो मे से किसी एक विधि को अपना सकते हैं—

(1) **आगमन विधि (Deductive Method)**—इस विधि के अनुसार न्यायालय विशिष्ट अभियोगा पर सामान्य सिद्धातो को लागू करके निर्णय देते हैं। इसको सिद्धान्तो के अनुसार निर्णय (Justice according to law) कहा जा सकता है। इसमे न्यायाधीश अपनी व्यक्तिगत इच्छा का प्रयोग नही करते। इस विधि को ज्यामितीय विधि (Geometrical Method) भी कहा जाता है।

(2) **निगमन विधि (Inductive Method)**—इस विधि के अनुसार न्यायाधीश विशिष्ट तथ्या का विश्लेषण करके कुछ ऐसे सामान्य नियमो को निकालते हैं जिनके आधार पर भविष्य मे अन्य अभियोगो पर निर्णय दिया

जा सकता है। इस प्रकार की विधि में विशिष्ट से सामान्य को प्राप्त किया जाता है।

न्यायिक पूर्वोक्ति का महत्त्व (Importance of Judicial Precedents)—न्यायिक पूर्वोक्ति का महत्त्व प्रत्येक देश में अलग अलग होता है। इङ्गलैण्ड में प्रत्येक छोटा न्यायालय अपने उच्च न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होता है। पहला न्यायालय (Court of Appeal) के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होता है, और (Court of Appeal House of Lords) के निर्णय को मानने के लिये बाध्य होता है। इसके अतिरिक्त House of Lords तथा Court of Appeal अपना ही निर्णय मानने के लिये बाध्य होते हैं।

इसी प्रकार भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के बाद से सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) ही सबसे बडा न्यायालय है। इसके निर्णय को भारत के अन्य सभी न्यायालय तथा उच्च न्यायालय (High Courts) मानने के लिए बाध्य हैं। सर्वोच्च न्यायालय इङ्गलैण्ड की Privy Council के निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नही। यह चाहे तो Privy Council के निर्णयों को अनुचित तक घोषित कर सकता है। भारत के सभी राज्यो के उच्च न्यायालयों के निर्णय उस राज्य के अन्य सभी न्यायालयो पर भी बन्धकारी रूप में लागू होते हैं। एक राज्य का उच्च न्यायालय दूसरे राज्य के उच्च न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए बाध्य नही, परन्तु यह उसे अनुनयात्मकरूप में स्वीकार कर सकता है।

कानूनी टीकाएँ विधि के स्रोत के रूप मे
(Commentaries as a source of Law) — (l)

प्रत्येक देश में कानून के प्रसिद्ध ज्ञाता कानून की व्याख्या करते हुए ग्रन्थ की रचना करते हैं, जिन्हें कानूनी टीकाएं कहा जाता है। न्यायशास्त्रियो और विधि विशारदो की ये टीकाएं भी कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत होती है। न्यायशास्त्री अपने विचार टीकाओं द्वारा प्रकट करते हैं, जब ये विचार स्वीकार कर लिए जाते हैं तब उन्हें निर्णयो के समान मान लिया जाता है। ब्रिटेन में एडवर्ड कोक, ब्लेक स्टोन, लिटिल्टन, (Littleton) केन्ट (Kent) आदि की सम्मतियों का बहुत आदर किया जाता है। भारत में भी हिन्दु कानून तथा मुस्लिम कानून से सम्बन्धित मिताक्षरा (Mitakshara), दायभाग (Dayabhaga) तथा फतवा-ए-आलमगीरी (Fatwa-i Alamgiri) आदि इसी प्रकार का पुस्तकें हैं।

साम्यनीति या औचित्य विधि के स्रोत के रूप मे (Equity as a source of Law)

गिलक्राइस्ट ने साम्य की परिभाषा इस प्रकार से दी है साम्य सब के साथ समान व्यवहार और स्वाभाविक निष्पक्षता (equality of treatment and intrinsic fairness) के आधार पर नई विधियो को बनाने और पुरानी विधियो म सशोधन करन का अनौपचारिक तरीका है।" मन के अनुसार—"साम्य वे नियम है जिनका अस्तित्व समाज म दीवानी विधि (Civil Law) के साथ साथ रहता है। ये नियम कुछ विशिष्ट सिद्धान्तो पर आधारित रहते हैं।"

न्यायाधीशो के समक्ष कभी कभी ऐसे विवाद उपस्थित हो जात हैं जिनके सम्बन्ध म कानून कोई प्रकाश नही डालता। ऐसी स्थिति म न्यायाधीश अपने विवेक (Discretion) न्यायशास्त्र के अनुभव और न्याय को साधारण मान्यताओ के आधार पर निर्णय देते हैं और य निर्णय ही औचित्यपूर्ण निर्णय कहलाते हैं। इगलड म तो सविधान और कानून के विकास म औचित्यपूर्ण निर्णयो का बहुत अधिक योग रहा है। सर हैनरीमेन ने तो इसके महत्व के विषय म यहा तक कहा है कि, "इन सिद्धान्तो की उच्चता के कारण जिनके आधार पर इनका निर्माण होता है, कभी कभी तो य साधारण नागरिक कानून से उच्चतर हो जाते हैं, क्योकि उनके विवादो का निर्णय इनके द्वारा सहज म हो जाता है जिनका निर्णय करने के लिए साधारण कानून अपने को असमर्थ पाते हैं।"

विधायन (व्यवस्थापन) विधि के स्रोत के रूप मे (Legislation as a source of Law)

व्यवस्थापन कानून का सबसे अधिक प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण स्रोत है। यह जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। लोकतान्त्रिक देशो म यह अभिव्यक्ति जनता द्वारा चुनी गई विधायिकाओ द्वारा होती है। गिलक्राइस्ट क शब्दो म—'व्यवस्थापन कानून का प्रमुख स्रोत है। प्रथाओ और औचित्य का स्थान बहुत कुछ सीमा तक विधायी कानूनो ने ले लिया है। कानून के सहिता बद्ध होने स कानून के स्रोत के रूप म न्यायिक निर्णयो का क्षेत्र सीमित हो गया है और कानूनी टीकाओ का उपयोग तो केवल विचार विमर्श के लिए ही किया जाता है।"

वर्तमान विश्व क विभिन्न राष्ट्रो म प्रचलित नियमो को वधानिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा है। राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार ...

विधियों की रचना की जा रही है। अतः इस प्रकार का विधायन भी विधि के स्रोतों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

विधायन की परिभाषा (Definition of Legislation)—'विधायन' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए निम्न परिभाषाओं का उल्लेख आवश्यक है—

(1) **सामण्ड (Salmond)**—सामण्ड के मतानुसार "विधायन विधि का स्रोत होता है जिसके द्वारा सक्षम सत्ता वैधानिक नियमों की घोषणा करती है। यह सिद्धान्तों की ऐसी अभिव्यक्ति होती है कि इससे उनको विधान की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह सिद्धान्तों की ऐसी घोषणा होती है जिससे राज्य के भावी न्यायालय उसकी मान्यता के लिए वैधानिक आधार रखते हैं।"[1] सामण्ड की यह परिभाषा बहुत ही व्यापक है। यह विधान (Legislation) शब्द का स्पष्ट रूप से व्याख्या नहीं करता। इसमें सक्षम सत्ता का तात्पर्य केवल व्यवस्थापिका ही नहीं, न्यायाधीश भी हो सकता है।

(2) **ग्रे (Gray)**—ग्रे महोदय विधायन की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि "यह समाज के व्यवस्थापिकीय अंग की औपचारिक घोषणा होती है।" ग्रे की परिभाषा बहुत कुछ उचित एवं स्पष्ट है, क्योंकि उनकी परिभाषा में "औपचारिक घोषणा" तथा "व्यवस्थापिकीय अंग" विधायन को विधि के अन्य स्रोतों से भिन्न प्रमाणित करते हैं।

(3) **हालैंड (Holland)**—हालैण्ड इसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि 'हमारे न्यायाधीशों द्वारा बनाए गए सामान्य आदेश भी सरकार द्वारा विधान की भाँति ही सत्य होते हैं।' परन्तु विधायन की परिभाषा इसके संकीर्ण अर्थों में हो की जाती है।

इस प्रकार विधायन एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से राज्य की सर्वोच्च शक्ति अपनी इच्छा को विधि का रूप प्रदान करती है। परन्तु विधायन केवल

---

1 Legislation is that source of law which consists in the declaration of legal rules by a competent authority It is such an enunciation of promulgation of principles as confers upon them the force of law It is such a declaration of principles as constitute legal ground for their recognition as law for the future by the tribunal of the State —Salmond

मात्र उन्ही विकसित देशो मे प्रमुख रूप से अपनाया जाता है जिसमे विधि प्रथाओ तथा रूढिया का ढेर नही होती, वरन् एक वैधानिक रूप धारण कर लेती ह। विधायन अभी कुछ शताब्दिया से ही विकसित हुआ है। विधायन की सामग्री प्रथायें ही होती हैं और जैसे-जसे समाज विकसित होता है ये प्रथायें विधियो का रूप धारण करती जाती हैं। रोमवासी विधायन द्वारा निर्मित विधियो को लिखित विधि (Jus Scriptum) तथा अन्य प्रकार की विधियो को अलिखित विधि (Jus Non-Scriptum) कहते थे। विधायन सामाजिक तथा वैधानिक सुधार का एक शक्तिशाली अस्त्र होता है।

विधि के स्रोतो की विवेचना वुड्रो विल्सन ने वडी विद्वता से इस प्रकार की है, "रीतिरिवाज ही विधि का सव प्रथम स्रोत है, पर धम भी उसी का समकालीन, उतना ही सफल और राष्ट्र विकास म लगभग वैसा ही स्रोत ह। न्याय निणय का उदय ही एक सत्ता के रूप म होता है और न्याय निणय बहुत पुराने समय से साम्य के साथ साथ विधि के विकास मे भाग लेते आये हैं। रीति-रिवाज, धम, न्याय और साम्य इन चारो के आधार पर जब समाज म विधि का काफी विकास हो चुका होता है। केवल व्यवस्थापन, जो कानून का विचारपूण और चेतन सगठन है, और वैज्ञानिक व्याख्या जो कानून के नियमा का विकास है, राजनीतिक समाज म उन्नत पद पर पहुचने की प्रतीक्षा मे है, ताकि वह विधि निर्माण म प्रवल प्रभाव डाल सके।" कानून के प्रारम्भिक स्रोता का महत्व यद्यपि आज कम हो गया है, किन्तु आज भी वे व्यवस्थापन की अति पर अकुश रखने का काय करते हैं।"

विधि की उपादेयता (Uses of law)

आदिम समाज से ही विधि की आवश्यकता को माना गया है। यह बात दूसरी ह कि उस काल म विधि इतनी विकसित और परिपक्व अवस्था मे नही थी परन्तु किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रचलित थी। चार्ल्स हावड तथा रावट समस (Charles G Howard and Robert S Summers) ने अपने ग्रन्थ 'Law its nature, functions and limits' म विधि की उपादेयता के निम्न कारण वतलाए हैं—

(1) विधि सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है (Law provides social security)

हावर्ड तथा समस क अनुसार, व्यक्ति स्वभाव से दूसरो की वस्तुओ `

प्राप्त करने के लिए लालायित (Acquisitive) तथा आक्राता (Aggressive) होता है। ऐसी स्थिति में बलशाली व्यक्ति ही अपनी भौतिक सम्पत्ति को सुरक्षित रख सकता है, कमजोर व्यक्ति को तो किसी वस्तु की प्राप्ति हो नहीं सकती। इन विद्वानों का यह भी मत है कि व्यक्ति मे हिंसा, नष्ट करने की प्रवृत्ति एवं चोरी की आदत होती है। ऐसी स्थिति मे विधि ही एक मात्र ऐसा साधन है जो व्यक्ति को जीवन सम्पत्ति व हिंसा से सुरक्षा दिला सकता है।[1] यद्यपि व्यक्ति के स्वभाव का यह चित्रण एक पक्षीय है परन्तु इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि विधि सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है।

(2) **विधि सामाजिक नीति के कार्यान्वयन का महत्वपूर्ण साधन है (Law is the most significant means of implimenting social policy)**

विधि एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से राज्य की सामाजिक नीति को व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाता है। सरकार के द्वारा राज्य की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए जो प्रयत्न किए जाते है वे विधि के द्वारा ही कार्यान्वित होते हैं। उदाहरणार्थ भारत में काफी वर्षों से बंधक प्रथा (Bondage system) प्रचलित थी जिसके अनुसार समृद्धिशाली व्यक्ति निर्धन पुरुषों एवं महिलाओं को अपने बंधन मे रखकर शोषण करते थे। सरकार ने विधि के माध्यम से इस प्रथा को अवैध घोषित कर लगभग 90 हजार व्यक्तियों को इस शोषण से मुक्ति दिलाई। दहेज प्रथा के उन्मूलन, परिवार नियोजन के प्रोत्साहन, दलित वर्ग के उत्थान सम्बन्धित कानूनों से देश के सामाजिक स्तर को ऊँचा करने में सहयोग दिया है।

(3) **विधि व्यक्ति के सामाजिक जीवन को सुधारता है (Law provides for the improvement of the quality of life in society)**

विधि समाज में व्यक्ति के जीवन स्तर को सुधारता है। सरकार द्वारा जो

---

1 Man is by nature acquisitive and aggressive Men are by nature prone to violance destruction and theft Because of his nature man needs laws protecting from theft and violence and needs laws protecting his property from theft

—Charles G Howard & Robert S Summers Law its nature functions and limits

कानून बनाये जाते ह उनके माध्यम से व्यक्ति अपने गुणात्मक जीवन स्तर को ऊँचा कर सकता है जैसे कोई व्यक्ति दस घण्टे से अधिक कारखाने मे काय नही कर सकता, उचित अवकाश का प्रबन्ध, सेवा निवृत्त होने पर उसके लिए पेंशन की व्यवस्था, भूमि के अधिकतम सीमा का निर्धारण (ceiling of landed property), सम्पत्ति के एकाधिकार (property monopoly) की समाप्ति आदि।

(4) विधि सामाजिक नियन्त्रण का साधन है (Law is a means of social control)

विधि व्यक्ति की मनमानी तथा अन्यायपूर्ण गतिविधियो पर नियन्त्रण रखता है। विधि व्यक्तियो मे सहयोग तथा सामजस्य स्थापित करता है। विधि के अभाव मे समाज मे मत्स्य व्यवस्था फल जाएगी बलशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्ति को दबाए रखेंगे, अपराधी वर्ग बिना किसी भय के अपराध काय करते रहेंगे। ऐसी स्थिति मे प्रथम तो समाज गठित नही हो पाएगा और यदि गठित भी हो गया तो उसका अस्तित्व सदैव खतरे मे रहेगा। कहने का तात्पय यह है कि विधि के द्वारा जो परिस्थिति व वातावरण उत्पन्न किया जाता ह उसी मे समाज अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। यद्यपि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथापि वह झगडालू प्रवृत्ति का भी है, अपने स्वाथ एव हितो के लिए सदैव सघषरत रहता है।

अत सामाजिक हित के लिए आवश्यक हो जाता है कि उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण हो। यह नियन्त्रण विधि द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था के द्वारा ही किया जा सकता है। विधि सामाजिक मतभेदो को दूर करता है तथा सामाजिक समागम को सुलभ बनाता है। यह सामाजिक सम्बन्धो को भी सचालित करता है। अत विधि सामाजिक नियन्त्रण का साधन है। वह समाज के सदस्यो के आपसी हितो मे सन्तुलन, सामजस्य एव सुव्यवस्था बनाये रखता है। प्रसिद्ध विधिवेता काहन (Cohen) ने उचित ही कहा कि विधि सामाजिक सामजस्य का विज्ञान है।[1] यही बात रॉस्को पाउन्ड (Roscoe Pound) ने कही "विधि का काय सामाजिक अभियान्त्रिक क्रिया है जिससे उसका अभिप्राय समाज मे परस्पर विरोधी हितो मे सन्तुलन स्थापित करना है।"[2]

---

1 Law is the science of social adjustm nt —Cohen

2 The task of law is social engineering by which it means the balancing of comp titing interest in society —Roscoe P

9040

फोस्टर, जफरी तथा डेविस के मतानुसार "विधि सामाजिक नियन्त्रण का वह औपचारिक साधन है जिसमे नियमो का प्रयोग होता है जिनकी व्याख्या की जाती है और जिन्हे एक राजनतिक समुदाय के न्यायालयो द्वारा लागू किया जाता है।"[1]

(5) विधि समाज विरोधी तत्वो पर नियन्त्रण रखता है (Law controls anti social elements)

विधि समाज विरोधी गतिविधिया एव कार्य-कलापो पर भी नियन्त्रण रखता है। आपराधिक विधि (Criminal Law) का उद्देश्य नागरिक को अपराध नही कर देने से रोकना है। इसके अतिरिक्त विधि आदतन अपराधियो (Habitual offenders) को भी नियन्त्रित करता है।

(6) विधि न्याय प्राप्ति का साधन है (Law is a means of securing justice)

नागरिक को अन्याय से मुक्ति तथा न्याय की प्राप्ति विधि द्वारा ही सम्भव है। यह कमजोर वर्ग का बहुत बड़ा सहारा है। विधि की उपादेयता एव आवश्यकता के विषय मे हावर्ड तथा समर्स का मत है "विधि न्याय प्राप्त कराता है, सामाजिक गतिरोधो का निराकरण करता है, समाज का निर्देशन व सचालन करता है, सामाजिक समागम रूपी यन्त्र को सुव्यवस्थित करता है, हितो का सरक्षण करता है तथा सामाजिक सम्बन्धो को भी नियन्त्रित करता है।"[2]

(7) मनोवैज्ञानिक महत्व (Psychological importance)

विधि और व्यवस्था (Law and order) सभ्य समाज की आधारशिला

---

1 Law is the formal means of social control that involves the use of rules that are interpreted and are enforceable by the courts of a political community

—Foster, Jeffery & Davis (Society and the law, p 41)

2 Law secures justice resolves social conflict orders society oils the machinery of social intercourse protects interests controls social relations

—Charles G Howard & Robert S Summers (Law its nature, functions and limits p 37)

है। विधि और व्यवस्था के कारण व्यक्ति मानसिक दृष्टि से जब सुरक्षित महसूस करता है तभी वह कुछ रचनात्मक काय करने की स्थिति में होता है अन्यथा असुरक्षा के वातावरण म असन्तुष्ट एव अशान्त रहता है।[1]

प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली वाले राज्यो म तो विधि का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योकि उस प्रणाली के मुख्य आदश स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व होते हैं। इन अदर्शों की प्राप्ति विधि व्यवस्था और शांति की स्थिति में ही हो सकती है।

(8) विधि सम्पत्ति की सुरक्षा करता है (Law ensures security of property)

विधि सावजनिक एव व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है। यह व्यक्ति के व्यापार, व्यवसाय करने, सम्पत्ति को अर्जित करने के अधिकार को नियन्त्रित करता है। कोई भी व्यक्ति अनैतिक तरीके से सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता। सावजनिक हितो म विधि द्वारा लगाए गये प्रतिबन्धो के अन्तगत ही व्यक्ति काय कर सकता है। इसका उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र मे सामाजिक हित है। इसके अतिरिक्त सावजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा भी विधि के सामाजिक हित के अन्तगत ही आती है।

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कप पर पहुँचते हैं कि विधि की समाज मे कितनी उपादेयता है। वतमान मे समाज के प्रतिमानो एव विधि म तीव्र परिवतनो के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल विद्यार्थी वरन सामान्य नागरिक उन परिवतनो का समुचित अध्ययन करे जो उसके सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

---

1 It is only the fact that the law and order exist which is vital but also the psychological feeling that they do, is equally rele vant The s nse of security among the people is the main spring of constructive activity and advance in society

—Chaturvedi, T N Emerging perspectives in law and order A fact of administrative change (A change in India (ed) Ramesh K Arora)

विधि और समाज का सम्बन्ध
(Relations between Law & Society)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसकी प्रवृत्ति एक एम सगटन के निर्माण और पुर्ननिमाण करते मे व्यक्त होती, जो उसके व्यवहार का निय त्रण एव माग दर्शन करता है। यह सगटन समाज है जो मनुष्य की क्रियाओ को स्वतन्त्र और सीमित करता है। जहा एक और समाज म मनुष्य की क्रियाओ को नियन्त्रित एव सीमित करना है वहा यह उसको प्रगति व विकास के लिए भी आवश्यक है। मनुष्य समाज से बाहर नही रह सकता और अगर रहता है तो अरस्तु के अनुसार वह व्यक्ति या ता पशु है अथवा देवता तुल्य। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मकाइवर (MacIver) का तो यहा तक कहना है कि जब कोई सन्यासी मानव समाज को त्याग देता है तो वह प्रकृति अथवा 'ईश्वर' के समीप दूसरा समाज पाने की कल्पना करता है अथवा वह एक प्रकार के आत्मदण्ड के उद्वेग से प्रेरित हो समाज से दूर भागता है। अत सामान्य मानवता म जीवन तभी जीने योग्य है जब उसमें सामाजिक सम्बन्ध होते है।

समाज के बारे म सभी सामाजिक विद्वानो ने अध्ययन किया है परन्तु उनके दृष्टिकोणो म भिन्नता है। राजनीतिशास्त्र म समाज का तात्पय व्यक्तियो के समूह से लिया जाता है अथशास्त्र समाज को आर्थिक क्रियाएँ करने वाले समूह के रूप मे देखता है जबकि मानवशास्त्र (Anthropology) आदिम समुदायो को ही वास्तविक समाज मानता है। इन सबसे भिन्न समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। ये समाज को सामाजिक सम्बन्धो की एक अमूत (Abstract) और जटिल (Complex) व्यवस्था मानते हैं। समाज जितना जटिल है उतने ही प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध होते है। मतदाता का अभ्यार्थी से, माता का सन्तान से, कर्मचारी का नियोक्ता से मित्र का मित्र से आदि अनेक सम्बन्धो म से कुछ सम्बन्ध हैं। सामाजिक शब्द की व्यापकता हम तब प्रकट होती है जबकि हम एक ही व्यक्ति के अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धो को देखते हैं। एक व्यक्ति के अपने परिवार, मित्र, धार्मिक सस्थाएँ, कार्यालय, राज्य से अनेक रूपो के सम्बन्ध होते हैं। उनम से हम कुछ को राजनतिक, कुछ को धार्मिक, कुछ को आर्थिक कुछ को वयक्तिक, कुछ को मित्रतापूर्ण तो कुछ को शत्रुतापूर्ण सम्बन्धो का नाम देते हैं। इसीलिए तो समाज को सामाजिक सम्बन्धो का जाल (Web of social relationship) कहा जाता है।

साम्यनीति या औचित्य विधि के स्रोत के रूप मे (Equity as a source of Law)

गिलक्राइस्ट ने साम्य को परिभाषा इस प्रकार से दी हैं "साम्य सब के साथ समान व्यवहार और स्वाभाविक निष्पक्षता (equality of treatment and intrinsic fairness) के आधार पर नई विधियो को बनाने और पुरानी विधियों म संशोधन करने का अनौपचारिक तरीका है।" मेन के अनुसार—"साम्य वे नियम हैं जिनका अस्तित्व समाज म दीवानी विधि (Civil Law) के साथ साथ रहता है। ये नियम कुछ विशिष्ट सिद्धान्तो पर आधारित रहते हैं।"

न्यायाधीशो के समक्ष कभी कभी ऐसे विवाद उपस्थित हो जाते हैं जिनके सम्बन्ध मे कानून कोई प्रकाश नही डालता। ऐसी स्थिति म न्यायाधीश अपने विवेक (Discretion) न्यायशास्त्र के अनुभव और न्याय को साधारण मान्यताओ के आधार पर निर्णय देते हैं और ये निर्णय ही औचित्यपूर्ण निर्णय कहलाते हैं। इगलैंड म तो संविधान और कानून के विकास मे औचित्यपूर्ण निर्णयो का बहुत अधिक योग रहा है। सर हेनरीमेन ने तो इसके महत्व के विषय म यहा तक कहा है कि, "इन सिद्धान्तो की उच्चता के कारण जिनके आधार पर इनका निर्माण होता है कभी कभी तो ये साधारण नागरिक कानून से उच्चतर हो जाते हैं, क्योकि उनके विवादो का निर्णय इनके द्वारा सहज मे हो जाता है, जिनका निर्णय करने के लिए साधारण कानून अपने को असमर्थ पाते है।"

विधायन (व्यवस्थापन) विधि के स्रोत के रूप मे (Legislation as a source of Law)

व्यवस्थापन कानून का सबसे अधिक प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण स्रोत है। यह जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। लोकतान्त्रिक देशो म यह अभिव्यक्ति जनता द्वारा चुनी गई विधायिकाओ द्वारा होती है। गिलक्राइस्ट के शब्दो म—'व्यवस्थापन कानून का प्रमुख स्रोत है। प्रथाओ और औचित्य का स्थान बहुत कुछ सीमा तक विधायी कानूनो ने ले लिया है। कानून के संहिता बद्ध होने से कानून के स्रोत के रूप म न्यायिक निर्णयो का क्षेत्र सीमित हो गया है और कानूनी टीकाओ का उपयोग तो केवल विचार विमर्श के लिए ही किया जाता है।"

वर्तमान विश्व के विभिन्न राष्ट्रो मे प्रचलित नियमो को वैधानिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा है। राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार नवीन

विधियो की रचना की जा रही है। अत इस प्रकार का विधायन भी विधि क स्रोतो म अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

विधायन की परिभाषा (Definition of Legislation)—विधायन' के अर्थ को स्पष्ट करन के लिए निम्न परिभाषाओं का उल्लेख आवश्यक है—

(1) सामण्ड (Salmond)—सामण्ड के मतानुसार "विधायन विधि का स्रोत होता ह जिसक द्वारा सक्षम सत्ता वधानिक नियमो की घोषणा करती ह। यह सिद्धान्तो की ऐसी अभिव्यक्ति होती हैं कि इससे उनको विधान की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह सिद्धान्तो की ऐसी घोषणा होती है जिससे राज्य के भावी न्यायालय उसकी मान्यता के लिए वधानिक आधार रखत हैं।"[1] सामण्ड की यह परिभाषा बहुत ही व्यापक ह। यह विधान (Legislation) शब्द का स्पष्ट रूप से व्याख्या नही करती। इसमे सक्षम सत्ता का तात्पय केवल व्यवस्थापिका ही नही, न्यायाधीश भी हो सकता हैं।

(2) ग्रे (Gray)—ग्रे महोदय विधायन की परिभाषा दत हुए कहते हैं कि 'यह समाज के व्यवस्थापिकीय अग की औपचारिक घोषणा होता ह। ग्रे की परिभाषा बहुत कुछ उचित एव स्पष्ट है, क्योकि उनकी परिभाषा म "औपचारिक घोषणा तथा व्यवस्थापिकीय अग" विधायन को विधि के अन्य स्रोतो स भिन्न प्रमाणित करते है।

(3) हालड (Holland)—हालण्ड इसकी परिभाषा देते हुए कहत हैं कि हमारे न्यायाधीशो द्वारा बनाए गए सामान्य आदेश भी सरकार द्वारा विधान की भांति ही सत्य होते हैं।" परन्तु विधायन की परिभाषा इसके सकीर्ण अर्थों म ही की जाती ह।

इस प्रकार विधायन एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से राज्य की सर्वोच्च शक्ति अपनी इच्छा को विधि का रूप प्रदान करती ह। परन्तु विधायन केवल

---

1 Legislation is that source of law which consists in the declaration of legal rules by a competent authority It is such an enunciation of promulgation of principles as confers upon them the force of law It is such a declaration of principles as constitute legal ground for their recognition as law for the future by the tribunal of the State —Salmond

मात्र उन्ही विकसित देशो मे प्रमुख रूप से अपनाया जाता है जिसमे विधि प्रथाओ तथा रूढियो का ढेर नही होती, वरन् एक वैधानिक रूप धारण कर लेती है। विधायन अभी कुछ शताब्दियो से ही विकसित हुआ है। विधायन की सामग्री प्रथायें ही होती हैं और जैसे जैसे समाज विकसित होता है ये प्रथायें विधियो का रूप धारण करती जाती है। रोमवासी विधायन द्वारा निर्मित विधियो को लिखित विधि (Jus Scriptum) तथा अन्य प्रकार की विधियो को अलिखित विधि (Jus Non-Scriptum) कहते थे। विधायन सामाजिक तथा वैधानिक सुधार का एक शक्तिशाली अस्त्र होता है।

विधि के स्रोतो की विवेचना वुड्रो विल्सन ने बडी विद्वता से इस प्रकार की है, "रीतिरिवाज ही विधि का सब प्रथम स्रोत है पर धम भी उसी का समकालीन, उतना ही सफल और राष्ट्र विकास मे लगभग वैसा ही स्रोत है। न्याय निणय का उदय ही एक सत्ता के रूप मे होता है, और न्याय निणय बहुत पुराने समय से साम्य के साथ साथ विधि के विकास मे भाग लेते आये हैं। रीति रिवाज, धम, न्याय और साम्य इन चारो के आधार पर जब समाज मे विधि का काफी विकास हो चुका होता है। केवल व्यवस्थापन, जो कानून का विचारपूण और चेतन सगठन है और वैज्ञानिक व्याख्या जो कानून के नियमो का विकास है, राजनीतिक समाज मे उन्नत पद पर पहुचने की प्रतीक्षा मे है, ताकि वह विधि निर्माण मे प्रवल प्रभाव डाल सके।" कानून के प्रारम्भिक स्रोतो का महत्व यद्यपि आज कम हो गया है, किन्तु आज भी वे व्यवस्थापन की गति पर अकुश रखने का काय करते हैं।"

विधि की उपादेयता (Uses of law)

आदिम समाज से ही विधि की आवश्यकता को माना गया है। यह बात दूसरी है कि उस काल मे विधि इतनी विकसित और परिपक्व अवस्था मे नही थी परन्तु किसी न किसी रूप म अवश्य प्रचलित थी। चाल्स हावड तथा रॉबट समस (Charles G Howard and Robert S Summers) ने अपने ग्र थ 'Law its nature, functions and limits' म विधि की उपादेयता के निम्न कारण वतलाए हैं—

(1) विधि सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है (Law provides social security)

हावर्ड तथा समस के अनुसार, व्यक्ति स्वभाव से दूसरो की

कानून बनाये जाते हैं उनके माध्यम से व्यक्ति अपने गुणात्मक जीवन स्तर को ऊँचा कर सकता है जैसे कोई व्यक्ति दस घण्टे से अधिक कारखाने में कार्य नहीं कर सकता, उचित अवकाश का प्रबंध, सेवा निवृत्त होने पर उसके लिए पेंशन की व्यवस्था, भूमि के अधिकतम सीमा का निर्धारण (ceiling of landed property), सम्पत्ति के एकाधिकार (property monopoly) की समाप्ति आदि।

(4) विधि सामाजिक नियन्त्रण का साधन है (Law is a means of social control)

विधि व्यक्ति की मनमानी तथा अन्यायपूर्ण गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। विधि व्यक्तियों में सहयोग तथा सामञ्जस्य स्थापित करता है। विधि के अभाव में समाज में मत्स्य व्यवस्था फैल जाएगी, बलशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्ति को दबाए रखेंगे, अपराधी वर्ग बिना किसी भय के अपराध कार्य करते रहेंगे। ऐसी स्थिति में प्रथम तो समाज गठित नहीं हो पाएगा और यदि गठित भी हो गया तो उसका अस्तित्व सदैव खतरे में रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि विधि के द्वारा जो परिस्थिति व वातावरण उत्पन्न किया जाता है उसी में समाज अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। यद्यपि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथापि वह झगडालू प्रवृत्ति का भी है, अपने स्वार्थ एवं हितों के लिए सदैव संघर्षरत रहता है।

अतः सामाजिक हित के लिए आवश्यक हो जाता है कि उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण हो। यह नियन्त्रण विधि द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था के द्वारा ही किया जा सकता है। विधि सामाजिक मतभेदों को दूर करता है तथा सामाजिक समागम को सुलभ बनाता है। यह सामाजिक सम्बन्धों को भी संचालित करता है। अतः विधि सामाजिक नियन्त्रण का साधन है। वह समाज के सदस्यों के आपसी हितों में संतुलन, सामञ्जस्य एवं सुव्यवस्था बनाये रखता है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता कोहेन (Cohen) ने उचित ही कहा कि 'विधि सामाजिक सामञ्जस्य का विज्ञान है।'[1] यही बात रॉस्को पाउण्ड (Roscoe Pound) ने कही 'विधि का कार्य सामाजिक अभियान्त्रिक क्रिया है जिससे उसका अभिप्राय समाज में परस्पर विरोधी हितों में सन्तुलन स्थापित करना है।''[2]

1. Law is the science of social adjustment —Cohen
2. The task of law is social engineering by which it means the balancing of competing interest in society —Roscoe Pound

फोस्टर, जफरी तथा डेविस के मतानुसार ' विधि सामाजिक नियन्त्रण का वह औपचारिक साधन है जिसमे नियमो का प्रयोग होता है, जिनकी व्याख्या की जाती है और जि हे एक राजनतिक समुदाय के न्यायालयो द्वारा लागू किया जाता है।"[1]

(5) विधि समाज विरोधी तत्वो पर नियन्त्रण रखता है (Law controls anti social elements)

विधि समाज विरोधी गतिविधियो एव काय कलापो पर भी निय त्रण रखता है। आपराधिक विधि (Criminal Law) का उद्देश्य नागरिक को अपराध नही कर देने से रोकना है। इसके अतिरिक्त विधि आदतन अपराधियो (Habitual offenders) को भी नियन्त्रित करता है।

(6) विधि न्याय प्राप्ति का साधन है (Law is a means of securing justice)

नागरिक को अन्याय से मुक्ति तथा न्याय की प्राप्ति विधि द्वारा ही सम्भव है। यह कमजोर वग का वहुत बडा सहारा है। विधि की उपादेयता एव आवश्यकता के विषय म हावर्ड तथा समस का मत है ' विधि न्याय प्राप्त कराता है, सामाजिक गतिरोधो का निराकरण करता है, समाज का निर्देशन व सचालन करता है, सामाजिक समागम रूपी य त्र को सुव्यवस्थित करता है, हितो का सरक्षण करता है तथा सामाजिक सम्बन्धो को भी नियन्त्रित करता है।"[2]

(7) मनोवैज्ञानिक महत्व (Psychological importance)

विधि और व्यवस्था (Law and order) सभ्य समाज की आधारशिला

---

1 Law is the formal means of social control that involves the use of rules that are interpreted and are enforceable by the courts of a political community

—Foster, Jeffery & Davis (Society and the law, p 41)

2 Law secures justice resolves social conflict, orders society, oils the machinery of social intercourse protects interests controls social relations

—Charles G Howard & Robert S Summers (Law its nature functions and limits p 37)

है। विधि और व्यवस्था के कारण व्यक्ति मानसिक दृष्टि से जब सुरक्षित महसूस करता है तभी वह कुछ रचनात्मक कार्य करने की स्थिति मे होता है अन्यथा असुरक्षा के वातावरण मे असन्तुष्ट एव अशान्त रहता है।[1]

प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली वाले राज्यो म तो विधि का महत्व और भी बढ जाता है क्योंकि उस प्रणाली के मुख्य आदर्श स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व होते हैं। इन आदर्शों की प्राप्ति विधि व्यवस्था और शाति की स्थिति मे ही हो सकती है।

(४) विधि सम्पत्ति की सुरक्षा करता है (Law ensures security of property)

विधि सार्वजनिक एव व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है। यह व्यक्ति के व्यापार, व्यवसाय करने, सम्पत्ति को अर्जित करने के अधिकार को नियन्त्रित करता है। कोई भी व्यक्ति अनैतिक तरीके से सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता। सार्वजनिक हितो मे विधि द्वारा लगाए गये प्रतिबन्धो के अन्तर्गत ही व्यक्ति कार्य कर सकता है। इसका उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र मे सामाजिक हित है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा भी विधि के सामाजिक हित के अन्तर्गत ही आती है।

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विधि की समाज म कितनी उपादेयता है। वर्तमान मे समाज के प्रतिमानो एव विधि मे तीव्र परिवर्तनो के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल विद्यार्थी वरन् सामान्य नागरिक उन परिवर्तनो का समुचित अध्ययन करें जो उसके सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

---

1 It is only the fact that the law and order exist which is vital but also the psychological feeling that they do is equally relevant The sense of security among the people is the main spring of constructive activity and advance in society

—Chaturvedi, T N Emerging perspectives in law and order A fact of administrative change (Administrative change in India (ed) Ramesh K Arora)

फोस्टर, जफरी तथा डेविस के मतानुसार ' विधि सामाजिक नियन्त्रण का वह औपचारिक साधन है जिसमे नियमो का प्रयोग होता है जिनकी व्याख्या की जाती है और जिन्हें एक राजनतिक समुदाय के न्यायालयो द्वारा लागू किया जाता है ।"[1]

(5) विधि समाज विरोधी तत्वो पर नियन्त्रण रखता है (Law controls anti social elements)

विधि समाज विरोधी गतिविधियो एव काय-कलापो पर भी नियन्त्रण रखता है । आपराधिक विधि (Criminal Law) का उद्देश्य नागरिक को अपराध नही कर देने से रोकना है । इसके अतिरिक्त विधि आदतन अपराधियो (Habitual offenders) को भी नियन्त्रित करता है ।

(6) विधि न्याय प्राप्ति का साधन है (Law is a means of securing justice)

नागरिक को अन्याय से मुक्ति तथा न्याय की प्राप्ति विधि द्वारा ही सम्भव है । यह कमजोर वग का बहुत बडा सहारा है । विधि की उपादेयता एव आवश्यकता के विषय म हावड तथा समस का मत है ' विधि न्याय प्राप्त कराता है, सामाजिक गतिरोधो का निराकरण करता है, समाज का निर्देशन व सचालन करता है सामाजिक समागम रूपी यन्त्र को सुव्यवस्थित करता है, हितो का सरक्षण करता है तथा सामाजिक सम्बन्धो को भी नियन्त्रित करता है ।"[2]

(7) मनोवैज्ञानिक महत्व (Psychological importance)

विधि और व्यवस्था (Law and order) सभ्य समाज की आधारशिला

---

1 Law is the formal means of social control that involves the use of rules that are interpreted and are enforceable by the courts of a political community

—Foster, Jeffery & Davis (Society and the law, p 41)

2 Law secures justice, resolves social conflict orders society, oils the machinery of social intercourse protects interests, controls social relations

—Charles G Howard & Robert S Summers (Law its nature functions and limits p 37)

है। विधि और व्यवस्था के कारण व्यक्ति मानसिक दृष्टि से जब सुरक्षित महसूस करता है तभी वह कुछ रचनात्मक कार्य करने की स्थिति में होता है अन्यथा असुरक्षा के वातावरण में असन्तुष्ट एव अशान्त रहता है।[1]

प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली वाले राज्यों में तो विधि का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि उस प्रणाली के मुख्य आदर्श स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व होते हैं। इन आदर्शों की प्राप्ति विधि व्यवस्था और शांति की स्थिति में ही हो सकती है।

(४) विधि सम्पत्ति की सुरक्षा करता है (Law ensures security of property)

विधि सार्वजनिक एव व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है। यह व्यक्ति के व्यापार, व्यवसाय करने, सम्पत्ति को अर्जित करने के अधिकार को नियन्त्रित करता है। कोई भी व्यक्ति अनैतिक तरीके से सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता। सार्वजनिक हित में विधि द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही व्यक्ति कार्य कर सकता है। इसका उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र में सामाजिक हित है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा भी विधि के सामाजिक हित के अन्तर्गत ही आती है।

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विधि की समाज में कितनी उपादेयता है। वर्तमान में समाज के प्रतिमानों एवं विधि में तीव्र परिवर्तनों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल विद्यार्थी वरन् सामान्य नागरिक उन परिवर्तनों का समुचित अध्ययन करें जो उसके सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

---

1 It is only the fact that the law and ord r exist which is vital, but also the psychological *feeling* that they do, is equally rele vant The s ns- of security among the people is the main spring of constructure activity and advance in society

—Chaturvedi, T N Emerging perspectives in law and order A fact of administrative change (Administrative chang in India (ed) Ramesh K Arora)

विधि और समाज का सम्बन्ध
(Relations between Law & Society)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसकी प्रवृत्ति एक एेस संगठन के निर्माण और पुर्ननिमाण करते में व्यक्त होती, जो उसके व्यवहार का नियन्त्रण एवं मार्ग दर्शन करता है। यह संगठन समाज है जो मनुष्य की क्रियाओं को स्वतन्त्र और सीमित करता है। जहां एक ओर समाज में मनुष्य की क्रियाओं को नियन्त्रित एवं सीमित करता है वहां वह उसकी प्रगति व विकास के लिए भी आवश्यक है। मनुष्य समाज से बाहर नहीं रह सकता और अगर रहता है तो अरस्तु के अनुसार वह व्यक्ति या तो पशु है अथवा देवता तुल्य। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मकाइवर (MacIver) का तो यहाँ तक कहना है कि जब कोई संन्यासी मानव समाज को त्याग देता है तो वह प्रकृति अथवा 'ईश्वर' के समीप दूसरा समाज पाने की कल्पना करता है अथवा वह एक प्रकार के आत्मदण्ड के उद्वेग से प्रेरित हो समाज से दूर भागता है। अतः सामान्य मानवता में जीवन तभी जीने योग्य है जब उसमें सामाजिक सम्बन्ध होते हैं।

समाज के बारे में सभी सामाजिक विद्वानों ने अध्ययन किया है परन्तु उनके दृष्टिकोणों में भिन्नता है। राजनीतिशास्त्र में समाज का तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से लिया जाता है अर्थशास्त्र समाज को आर्थिक क्रियाएँ करने वाले समूह के रूप में देखता है जबकि मानवशास्त्र (Anthropology) आदिम समुदायों को ही वास्तविक समाज मानता है। इन सबसे भिन्न समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। वे समाज को सामाजिक सम्बन्धों की एक अमूर्त (Abstract) और जटिल (Complex) व्यवस्था मानते हैं। समाज जितना जटिल है उतने ही प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। मतदाता का अभ्यार्थी से, माता का सन्तान से, कर्मचारी का नियोक्ता से, मित्र का मित्र से आदि अनेक सम्बन्धों में से कुछ सम्बन्ध हैं। सामाजिक शब्द की व्यापकता हम तब प्रकट होती है जबकि हम एक ही व्यक्ति के अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को देखते हैं। एक व्यक्ति के अपने परिवार, मित्र, धार्मिक संस्थाएँ, कार्यालय, राज्य से अनेक रूपों के सम्बन्ध होते हैं। उनमें से हम कुछ को राजनतिक, कुछ को धार्मिक, कुछ को आर्थिक कुछ को वैयक्तिक कुछ को मित्रतापूर्ण तो कुछ को शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों का नाम देते हैं। इसीलिए तो समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल (Web of social relationship) कहा जाता है।

अनुसार —"कल्चर आत्मा की भावना जो जीवन के तत्वों में व्यक्त होती है या उनके प्रति मानवीय दृष्टिकोण को व्यक्त करती है"।

कानून द्वारा सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति—यदि कानून का सांस्कृतिक उद्देश्य के रूप में अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि कानून और संस्कृति का क्या सामंजस्य रहा है। पाश्चात्य यूनानी समाज की प्रारम्भिक अवस्था में शांति और सुरक्षा की आवश्यकता थी। अतः उस समय कानून का उद्देश्य सामाजिक अवस्था को बनाये रखना था। युद्ध और संघर्षों से उकताया हुआ यूनानी समाज शांति और व्यवस्था के लिए सामाजिक स्थिरता की कामना किया करता था। रोमन सभ्यता में स्थिरता की मांग इतनी नहीं थी, जितनी कि उन्नति की। इसी तरह मध्यकालीन यूरोप में धर्म को शक्तिशाली बनाने हेतु प्रयास किये जा रहे थे। इसलिए वहाँ व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ किये गये। अतः कानून का उद्देश्य व्यवस्था और सामाजिक स्थिरता लाना हो गया।

व्यक्ति समाज और धर्म के बन्धनों से जकड़ता रहा। पुनर्जागरण के युग और धार्मिक विप्लव के युग में राष्ट्रीय संगठनों का उत्थान हुआ, और धीरे धीरे धर्म का प्रभाव क्षीण होने लगा, और कानून का धर्म से सम्बन्ध विच्छेद होने लगा। अतः स्थानीय कानून को अधिक महत्व दिया जाने लगा। धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिवादी भावना ने प्रोटेस्टेंट धर्म का रूप लिया और यूरोप के धार्मिक एकत्व को भंग किया। अतः अब कानून का मूल उद्देश्य मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा को बनाये रखना हुआ। 17वीं शताब्दी में धर्मनिरपेक्ष विचारों के कारण यह आवश्यक हो गया कि मनुष्य को सुरक्षित रखने के लिए कुछ प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होने लगे और सामाजिक संविदा (social contract) की विचारधारा का उदय हुआ। कानून का उद्देश्य अब व्यक्तिगत अधिकारों को व्यक्त करना और रक्षा करना रह गया था। कानून जो प्राकृतिक समानता लाने का साधन था अब वह प्राकृतिक अधिकारों की प्राप्ति का साधन हो गया। 18वीं शताब्दी में सैद्धान्तिक तौर से व्यक्तिवाद का समर्थन किया गया, अतः कानून का सांस्कृतिक उद्देश्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकृत करना हो गया। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। अब कानून को एक अहित कर समझा जाने लगा और कानून की मांग कम से कम की जाने लगी। उसका कार्य केवल निषेधात्मक होकर पुलिस कार्य समझा जाने लगा। स्वतन्त्र संविदा के नाम पर औद्योगिक युग में पूंजीपतियों ने और मिल मालिकों ने श्रमिकों की आवश्यकता का अनुचित लाभ उठाना शुरू किया और उनका शोषण करना प्रारम्भ

किया। प्रति जीविका के सिद्धात ने अमीरो को ज्यादा अमीर और गरीबो को ज्यादा गरीब बना दिया। सामाजिक उत्तरदायित्व का अन्त होने लगा। वग सघष प्रारम्भ हुआ और समाज विघटन की ओर अग्रसर होने लगा। यह व्यक्तिवाद की ही देन थी।

ऐसे विकृत समाज के विरुद्ध क्या प्रतिक्रियाएँ हुई। आज के युग मे सास्कृतिक उद्देश्यो द्वारा कानून का रूप उचित नही बतलाया जा सकता। फिर भी **रॉस्को पाउण्ड** के अनुसार— 'व्यक्ति की अमूर्त इच्छा शक्ति से ज्यादा उसके मूत अथवा भौतिक जीवन पर बल दिया जाय। राज्य द्वारा जीवन साधना म प्रगति की जाय। व्यक्ति के प्रासगिक नुकसान समाज द्वारा पूरे किये जाय। व्यक्ति को जाने के लिए यूनतम स्तर उपलब्ध कराया जाय'। इस तरह शुद्ध व्यक्तिवाद के विरुद्ध सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर सास्कृतिक क्रम चल रहा है।

कोलहर ने अपनी विधि विचारधारा को सम्कृति कहकर परिभाषित किया और आज के राष्ट्रीय उत्थान और सामाजिक योजनाओ के युग म ऐसी विचारधारा हमारे सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प्रेरणादायक है। हीगल के आदशवाद को आधार मानकर इस विचारक ने यह समझने की कोशिश की है, कि कानून का अस्तित्व केवल एक तकनीकी विज्ञान बनने से सिद्ध नही होता उसके सही अस्तित्व को जानने के लिए उसका अध्ययन धार्मिक व नैतिक विचारधाराओ और हमारी परम्पराओ के सदभ म करना आवश्यक है।

कोलहर के अनुसार—सस्कृति कानून का साध्य और साधन दोनों ही है। कानून का गठन इस प्रकार होना चाहिए कि अधिकतम मात्रा म यह सस्कृति के अनुरूप हो जाय। कानून का काय केवल अधिकारो की रक्षा ही नहीं, सांस्कृतिक योजनाओ क द्वारा एक समृद्धिशाली समाज का विकास भी करना है। कोहलर ने आदशवाद के साथ साथ यथार्थवाद का भी दृष्टिकोण अपनाया है।

विधि और सामाजिक न्याय
(Law & Social Justice)

न्याय तथा विधि को एक-दूसरे का पूरक कहा जाता है। यदि विधि का उद्देश्य समाज म न्याय की स्थापना करना नही होता, तो विधि वास्तव म अपने उद्देश्य को प्राप्त करने म असफल रहती है। ठीक इसी प्रकार न्याय उसी समय स्थापित किया जा सकता है जब इसके साथ विधि की शक्ति सन्निहित होती है।

फ्रान्सीसी दार्शनिक **पैस्कल** का कहना है कि "शक्ति के बिना न्याय नपुंसक होता है, न्याय के बिना शक्ति निरंकुश, बिना शक्ति के न्याय एक काल्पनिक धारणा ही है क्योंकि सदा बुरे व्यक्ति भी होते है न्याय के बिना शक्ति सदा दोषी ही मानी जाती है। अतएव हम शक्ति और न्याय को साथ ही साथ रखना चाहिए और प्रत्येक वस्तु के साथ इस धारणा के अनुसार व्यवहार करना चाहिए जो कुछ न्याय संगत है वह शक्तिशाली है और जो कुछ शक्तिशाली है वह न्यायसंगत भी है। यहां पर शक्ति से तात्पर्य विधि से ही है। बिना विधि के न्याय की सत्ता नहीं और बिना न्याय के विधि की सत्ता नहीं। कुछ लोग तो न्याय को इतनी अधिक प्राथमिकता प्रदान करते हैं कि वे न्याय को विधि की कसौटी एवं विधि का आदर्श मानते हैं। न्याय वास्तव में विधि की सत्यता है। केल्सन (Kelson) न्याय को ही सामाजिक प्रसन्नता मानते हैं। सिसरो ने न्याय की परिभाषा देते हुए कहा कि न्याय विधि का पालन ही है। बहुत से वैधानिक वाक्यांश—जैसे विधि को लागू करने वाली संस्थाएँ न्यायालय कहलाती है और विधि को लागू करने वाले व्यक्ति न्यायाधीश—भी विधि एवं न्याय की अन्योन्याश्रितता ही व्यक्त करते हैं। **स्टैमलर** (Stammler) का कहना है कि समस्त सुस्पष्ट विधियां न्याय संगत विधि की स्थापना करने का ही प्रयत्न करती है। **विनोग्रेडाफ** के अनुसार विधि का उद्देश्य न्याय एवं औचित्य की स्थापना ही करना होता है। न्याय की स्थापना का तात्पर्य विधि का इस प्रकार प्रयोग करना होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार का उपभोग कर सके। **सामण्ड** के विचार से न्याय का तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अपना हिस्सा प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रदान करना है। न्याय के नियम व्यक्तिगत कल्याण के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान करते है। **वाशिंगटन** कहते है कि न्याय-प्रशासन सरकार का दृढ़तर स्तम्भ होता है। हिन्दू धर्मशास्त्री मनु न्याय प्रशासन को धार्मिक प्रशासन बताते हैं। **याज्ञवल्क्य** का कहना है कि निष्पक्ष न्याय-प्रशासन से वैदिक आहुति करने की भांति पुरस्कार प्राप्त होता है।

इस प्रकार न्याय की स्थापना विधि का प्रमुखतम उद्देश्य है। **हॉब्स** के अनुसार मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी होता है। वह अपने ही हित को पूरा करना चाहता है जिसके कारण समाज में पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यदि इस संघर्ष पर किसी सत्ता द्वारा भय दिखाकर नियन्त्रण नहीं किया जाता तो उस समाज में युद्ध की-सी स्थिति हो जाती है। ऐसे समाज में मानव जीवन कष्टमय, क्षणिक, दयनीय, एवं बर्बर हो जाता है। ऐसे समाज को भेड़ियों का समुदाय कहा जा सकता है। अतएव यह आवश्यक है कि विधि के द्वारा ही न्याय की स्थापना

निर्माण करते हैं। न्यायालयों की व्याख्याएं (Interpretations) और उसकी व्यवस्थाएं (Ruling) अधिकार पूर्ण मानी जाती है। उनका प्रयोग ही कानून की तरह होता है। यदि कोई व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है तो राज्य की तरफ से उन्हें दण्ड की व्यवस्था होती है।

सामाजिक न्याय (Social Justice)— न्याय का उद्देश्य यह होता है कि मनुष्यों को योग्यता के अनुसार जीवन सामग्री प्राप्त होनी चाहिए। यदि परिस्थितियों के कारण कोई मनुष्य या सामाजिक वर्ग अपने प्रगति की दौड़ में पीछे रह जाय तब न्याय ही न्यायोचित जीवन बसर करने के साधन उपलब्ध करवा सकता है। इस प्रकार न्याय से प्रेरित होकर मानवीय समाज श्रद्धा की भावना रखते हैं। सामाजिक जीवन की यह समय के अनुसार मांग होती है कि प्रत्येक मनुष्य को न्यूनतम सामाजिक और आर्थिक स्तर प्राप्त होने चाहिए जिससे कि मनुष्य समाज में सम्मान पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। सामाजिक न्याय का उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य का उच्चतम विकास। यदि आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां उस विकास में बाधक बनती है तो शीघ्रता से सुधार होना चाहिए। सामाजिक न्याय में समाज के प्रत्येक वर्ग विशेषज्ञ अल्प-संख्यकों शोषित वर्ग एवं पिछड़ी जातियों के हितों की सुरक्षा के लिए न्यायिक व्यवस्था होनी चाहिए।

भारत में सामाजिक न्याय—भारत में सामाजिक न्याय एक क्रांतिकारी और परिवर्तनकारी कदम रहा है। सामाजिक न्याय कोई ढकोसला नहीं, परन्तु समाज कल्याण और समाज सुधार का कार्य, जिसका कि सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य का होता है। भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश **श्री गजेन्द्र गड़कर** ने सामाजिक कुप्रथाओं और सामाजिक बुराईयों की ओर विशेष ध्यान दिया। क्योंकि यहां पर समाज पूर्ण रूप से जाति प्रथा पर आधारित है, जिसमें छुआछूत की भावना, साम्प्रदायिकता, जातिवाद भाषा आदि के कारण सामाजिक असमानता व्यापक रूप से प्रचलित रहा है। यही सामाजिक भावना कुशल शासक के लिए संकट का कारण बनी हुई है। यह तभी सम्भव है जब सामाजिक कुरीतियां को मिटाकर समूचा राष्ट्र, समाज, समानता और एकता के सूत्र में बंधकर हर नागरिक को सम्मान पूर्वक सामाजिक जीवन में सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करे। इस प्रकार भारतीय समाज में सामाजिक सुधार होने के संकटों का सामना किया जा सकता है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में सर्व प्रथम सामाजिक, आर्थिक और

की जाय। सामण्ड के विचार से समाज उसी समय चल सकता है जब राज्य उसे अपनी छत्रछाया प्रदान करे और राज्य की छत्रछाया, जिसका तात्पय शान्ति, व्यवस्था तथा सभ्यता की स्थापना है, राज्य के प्रमुख तत्वो—विधि तथा न्याय—के प्रयोग से ही सम्भव है।

कानून सामाजिक प्रक्रिया को उपज होती हैं। अतएव उसे समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन होना चाहिए। समाज शास्त्रीय विचारका के अनुसार कानून की अच्छाई का निणय उसके परिणामो के आधार पर किया जाना चाहिए न कि आदश व काल्पनिक सिद्धान्त पर ऐसे ही कानून सामाजिक उद्देश्यो का अध्ययन करते हैं। ड्यूग्वो (Duguit) के अनुसार—'रचनात्मक कानून केवल व ही कहे जा सकते हैं जिनके द्वारा समाज सेवा का सगठन होता हो'। अत कानून को नतिक रूप स वध होने के लिए कानून को जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाला होना चाहिए। यदि कानून जनता के नतिक विश्वास के अनुकूल नही है, तब सामाजिक न्याय नही हो सकता है अथवा सामाजिक वातावरण क अनुकूल नही हो तो उसे कानून की सज्ञा नही दी जा सकती। लॉस्की ने तो यहा तक कह दिया कि 'एक अच्छा कानून वही है जिसक परिणाम स्वरूप मनुष्यो की सामाजिक इच्छाओ का अधिक से अधिक सन्तुष्टिकरण हो सके। अच्छे कानून के अतिरिक्त अन्य किसी कानून का पालन औपचारिक रूप स भले ही हो जाय वास्तविक रूप से वह पालन करन के योग्य हो ही नही सकता'।

इस प्रकार राज्य द्वारा कानूनो की मान्यता उन्ही विधियो को देनी चाहिए जिनसे सामाजिक हितो व सामाजिक न्याय होता हो। यदि राज्य इस प्रकार के कानूनो को मान्यता देने लगे जो समाज के प्रथागत अथवा परम्परागत स्तर के अनुकूल न हो, तथा समाज के प्रतिकूल हो, तो ऐसे कानून तो निश्चित रूप से रहगे ही नही, अथवा ऐस कानूनो का निर्माण करने वाली सरकार भी समाप्त हो जायगी।

कानून और न्याय एक दूसरे के परस्पर सहयोगी रहे हैं। कानून के आधार पर ही न्याय किया जाता है परन्तु यह आवश्यक नही कि जसा कानून हो वैसी ही उसकी व्याख्या न्याय शास्त्री करे। न्याय का काय तो 'दूध का दूध और पानी का पानी' करना होता है। आज न्यायिक निणय कानून के विकास म पर्याप्त सहायक रहे हैं। न्यायाधीश विधि की व्याख्या करते समय नये नये कानूनो का

निर्माण करते हैं। न्यायालयों की व्याख्याएं (Interpretations) और उसकी व्यवस्थाएं (Ruling) अधिकार पूर्ण मानी जाती है। उनका प्रयोग ही कानून की तरह होता है। यदि कोई व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है तो राज्य की तरफ से उन्हें दण्ड की व्यवस्था होती है।

सामाजिक न्याय (Social Justice)— न्याय का उद्देश्य यह होता है कि मनुष्यों को योग्यता के अनुसार जीवन सामग्री प्राप्त होनी चाहिए। यदि परिस्थितियों के कारण कोई मनुष्य या सामाजिक वर्ग अपनी प्रगति की दौड़ में पीछे रह जाय तब न्याय ही न्यायोचित जीवन बसर करने के साधन उपलब्ध करवा सकता है। इस प्रकार न्याय से प्रेरित होकर मानवीय समाज श्रद्धा की भावना रखते हैं। सामाजिक जीवन की यह समय के अनुसार मांग होती है कि प्रत्येक मनुष्य को न्यूनतम सामाजिक और आर्थिक स्तर प्राप्त होने चाहिए जिससे कि मनुष्य समाज में सम्मान पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। सामाजिक न्याय का उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य का उच्चतम विकास। यदि आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां उस विकास में बाधक बनती है तो शीघ्रता से सुधार होना चाहिए। सामाजिक न्याय में समाज के प्रत्येक वर्ग विशेषतः अल्प-सख्यकों, शोषित वर्ग एवं पिछड़ी जातियों के हितों की सुरक्षा के लिए न्यायिक व्यवस्था होनी चाहिए।

भारत में सामाजिक न्याय—भारत में सामाजिक न्याय एक क्रांतिकारी और परिवर्तनकारी कदम रहा है। सामाजिक न्याय कोई ढकोसला नहीं, परन्तु समाज कल्याण और समाज सुधार का कार्य जिसका कि सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य का होता है। भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश **श्री गजेन्द्र गड़कर** ने सामाजिक कुप्रथाओं और सामाजिक बुराईयों की ओर विशेष ध्यान दिया। क्योंकि यहां पर समाज पूर्ण रूप से जाति प्रथा पर आधारित है जिसमें छुआछूत की भावना, साम्प्रदायिकता जातिवाद भाषा आदि के कारण सामाजिक असमानता व्यापक रूप से प्रचलित रहा है। यही सामाजिक भावना कुशल शासक के लिए संकट का कारण बनी हुई है। यह तभी सम्भव है जब सामाजिक कुरीतियों को मिटाकर समूचा राष्ट्र, समाज, समानता और एकता के सूत्र में बंधकर हर नागरिक को सम्मान पूर्वक सामाजिक जीवन में सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करे। इस प्रकार भारतीय समाज में सामाजिक सुधार होने के संकटों का सामना किया जा सकता है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में सब प्रथम सामाजिक आर्थिक और

राजनतिक न्याय प्राप्त करने का दृढ़ सकल्प किया गया है। भारतीय सविधान म नागरिको को मूल अधिकार प्रदान किये हैं जिनसे उनके (नागरिको के) सामाजिक जीवन एव व्यक्तित्व के विकास म सहायक सिद्ध हो सके। इसी कारण ये अधिकार अपने आपमे निर्पेक्ष न होकर सामाजिक न्याय के कारण सापेक्ष है। सविधान मे नीति–निर्देशक तत्वो का भी समावेश किया गया है। यद्यपि इन सिद्धान्तो को क्रियान्वित करने हेतु न्यायालय को विवश नहीं किया जा सकता, क्योकि देश मे अभी तक सामाजिक और आर्थिक एव राजनैतिक परिस्थितियाँ अभी इस योग्य नही है कि इनका कानूनी परिवतन हो सके। फिर भी ये न्यायशील समाज के लिए उत्कष एव आदर्श सिद्ध हुए हैं। इनमे नागरिक अधिकारो के साथ साथ कतव्य भी बतलाये गये हैं।

नीति निर्देशक तत्वो म वे आदर्श योजनाए हैं जिन पर आने वाले समय म विधि निर्माण क रथ को अग्रसर होना है। ये आधुनिक सभ्य समाज की अभिधारणाए हैं तथा सामाजिक न्याय के विशाल स्तम्भ है।

भारतीय सविधान में सामाजिक अन्याय को मिटाने के लिए विशेष ध्यान दिया गया है। नागरिको के जीवन स्तर को ऊपर उठाने की अनुमति देता है। छुआछूत जो सामाजिक कलक है, उसको मिटाने के लिये सविधान की धारा 17 मे छुआछूत के अधिकार का उन्मूलन किया गया है। अनुच्छेद 15 (1) के अनुसार कोई भी राज्य सरकार धम, जाति वग, लिंग, जन्म-स्थान के नाम पर विभेद या सौतेला व्यवहार नहीं कर सकता। 16(4) के अनुसार राज्य को यह ज्ञात हो जाय कि जातियो का प्रतिनिधित्व राज्य नियुक्तियो मे ठीक से नही हो पाया है तो पिछडी जातियो के लिए कुछ नियुक्तियो को सुरक्षित कर सकता है।

इस तरह भारतीय सविधान म सामाजिक जीवन का युगयुगान्तर से चली आ रही अस्वस्थ्य बीमारियो को सवैधानिक शल्य क्रिया द्वारा निवारण करने की अनुमति दी है जिससे सामाजिक जीवन का वातावरण दूषित न हो सके।

इसी तरह उच्च न्यायालयो ने भी सामाजिक न्याय को श्रमिक क्षेत्र म वेतन श्रृखला, अवकाश, बोनस आदि विषयो पर उचित निणय देकर एक क्रांतिकारी कदम उठाया गया है।

विधि और स्वतन्त्रता (Law & Liberty)

स्वतन्त्रता और विधि के सम्बन्ध म दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इस कथन का तात्पय यह है

कि कानून स्वतन्त्रता पर आघात करता है। व्यक्तिवादी विचारक इस मत के समर्थक हैं। वे कहते हैं कि राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न होने के नाते ऐसे कानून बनाता है, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आघात करते हैं, उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव होता है। अराजकतावादी तो इसी कारण कानून और सरकार का अन्त ही कर देना चाहते हैं। दूसरी विचारधारा यह है कि स्वतन्त्रता कानून के द्वारा ही सम्भव होती है तथा राज्य का कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। जैसा लॉक ने कहा है, ,जहाँ कानून नहीं होता वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं रह सकती।"[1] विलोबी ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है, और कहा है कि "स्वतन्त्रता का अस्तित्व इसलिए है कि मर्यादा का अस्तित्व है।"[2] हॉकिंग्स के अनुसार, 'जितनी अधिक स्वतन्त्रता व्यक्ति चाहता है उतना ही अधिक उसे प्रशासन के सम्मुख झुकना पड़ता है।"[3] इसी प्रकार रिची ने कहा है कि "व्यक्तित्व के विकास के यथार्थ अवसर के रूप में स्वतन्त्रता का अर्थ कानून का निर्माण ही है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका अस्तित्व राज्य के कार्य-क्षेत्र से बाहर हो"।[4]

कानूनी प्रतिबन्ध स्वतन्त्रता की आत्मा छीन लेते हैं। यह बात वस्तुतः तभी कही जा सकती है, जब स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचार लगाया जाय। यह तो वस्तुतः व्यक्ति के हित में होता है कि कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता को सीमित किया जाय। जब तक कानून बाह्य बन्धन के रूप में समझा जाता है तब तक उसके प्रति विरोध और असन्तोष रहता है, किन्तु ज्योंही औचित्य के आधार पर अन्तरात्मा द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाता है, वह बन्धन न रह कर स्वतन्त्रता बन जाता है। जैसा रूसो ने कहा है, 'जिस कानून को हम अपने लिए बनाते हैं, उसका

---

1 Where there is no law, there is no freedom
—Lock Quoted by Asirvatham (Political Theory, p 141)

2 Freedom exists only because there is restraint
—Willoghby

3 The greater the liberty a person desires the greater is the authority to which he should submit himself
—Hokings

4 Liberty in the sense of positive opportunity for self-development is the creation of law and not something that could exist apart from the action of the State
—Ritchie : (Natural Rights pp 139 '

पालन स्वतन्त्रता कहलाती है।"[1] इसीको लॉस्की ने अन्य शब्दों में यों कहा है कि 'कानून केवल आज्ञा ही नहीं है, वह अनुरोध भी है।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता तथा कानून का सम्बन्ध रक्षित और रक्षक का है, भक्षित और भक्षक का नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक कानून स्वतन्त्रता का रक्षक नहीं होता तथा कुछ कानून ऐसे भी होते हैं जो व्यक्तित्व के विकास में, स्वतन्त्रता की रक्षा में, तथा आत्मपूर्णता की प्राप्ति में बाधक होते हैं, तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं कि मौलिक रूप से कानून स्वतन्त्रता का विरोधी होता है।

व्यक्तिवादियों (Individualists), अराजकतावादियों (Anarchists), सिंडिकलिस्टों (Syndicalists) और अन्य अनेक लोगों का भी यही मत है कि स्वतन्त्रता तथा कानून, दोनों को मिलाया नहीं जा सकता। जहाँ एक का बाहुल्य है, वहाँ दूसरे की कमी होगी। राज्य की प्रभुत्व शक्ति जीवन के हर पहलू पर प्रभाव डालती है, अतः पद पद पर मनुष्य को राज्य के कानूनों की आज्ञा माननी पड़ती है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है और उसका कार्य करने का उत्साह मारा जाता है। इसलिए व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। मनुष्य का राज्य से अलग रहकर ही कल्याण होगा। राज्य को शान्ति, अमन कायम रखने के अलावा कुछ नहीं करना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने के बराबर सुअवसर दे देने चाहिये। अराजकतावादी और आगे पहुँचते हैं और चाहते हैं कि समाज को राज्य के बन्धनों से विमुक्त रखा जाए। इनका दावा है कि "राज्यविहीन समाज में ही व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार उन्नति के सुअवसर प्राप्त हो सकते हैं।" इसी प्रकार सिंडिकलिस्ट (Syndicalists) भी राज्य के विरोधी हैं। दूसरी ओर, समाजवादी (Socialists) राज्य के कार्यक्षेत्र को निरन्तर बढ़ाने के पक्ष में हैं। वे जनता के सामान्य, आर्थिक नैतिक व बौद्धिक विकास में राज्य के दखल को न्याय संगत घोषित करते हैं।

इस प्रकार प्रभुत्व शक्ति व स्वतन्त्रता में मौलिक विरोध प्रत्यक्ष रूप से नजर नहीं आता है। दोनों का एक-दूसरे से वैर प्रतीत होता है किन्तु संयम विहीन स्वतन्त्रता चल नहीं सकती। संयम तथा बन्धन विमुक्त स्वतन्त्रता तो एक लाइसेंस

---

1 Obedience to a law which we prescribe to ourselves is liberty
—Rousseau (Social Contract p 19)

2 Law is not merely a command it is also an appeal
—Laski (Liberty in the Modern State, p 71)

लगाए गये प्रत्येक नियन्त्रण से, जनता की स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है। यदि बन्धन, आवश्यकता की सीमा को पार करके जीवन के आनन्द का विनाश करने वाला है तो निश्चय ही उसे मनुष्य की स्वतन्त्रता का घातक कहना होगा। 'प्रत्येक व्यक्ति की यही कामना है कि जिन वस्तुओं से उसके निजी जीवन की नैतिक उन्नति में प्रेरणा मिलती है, उन्हें पाने की सुविधाएँ उसे प्राप्त हों। जो बन्धन या नियन्त्रण इस प्रेरणा को सीमाबद्ध बनाते हों, उन्हें स्वाधीनता घातक कहना होगा।" यदि मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अपने मत को प्रकट नहीं करता और उसे अधिकारीवर्ग को अपना दृष्टिकोण समझाने के साधन प्राप्त नहीं हैं तो उसे सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। प्रजातन्त्रीय राज्य व्यवस्था में अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने की आज्ञा होती है। जिस जगह व्यक्ति की इच्छा समुदाय के दबाव में है या जहाँ डिक्टेटरशिप है वहाँ किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं मानी जा सकती। कम से कम ऐसे राज्य में विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं होती। इसलिए सच्ची स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए न तो पूरी छूट मिल सकती है न मनमाना अधिकार मिल सकता है। **ड्यूग्वी (Duguit)** का कथन है कि, "उत्तरदायित्व से ही स्वतन्त्रता उच्छृंखलता बन जाती है। स्वतन्त्रता से ही उत्तरदायिता स्वेच्छाचारी शक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि क्या स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व मिलें, प्रत्युत प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार मिल सकते हैं और उनसे अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है। यही समस्त राजनीतिक दर्शन का सार है।" इस प्रकार, स्वतन्त्रता का प्राण सामंजस्य है।

अतः स्वतन्त्रता और कानून के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार—स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इस कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि कानून स्वतन्त्रता पर आघात करता है। व्यक्तिवादी विचारक इस मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव होता है क्योंकि राज्य सप्रभुत्व सम्पन्न होने के नाते ऐसे कानून बनाता है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आघात करते हैं। अराजकतावादी विचारधारा के अनुसार राज्य और कानून का ही अन्त कर देना चाहिए। इन विचारधाराओं के कारण मनुष्य का राज्य से अलग रह कर ही कल्याण हो सकता है। अराजकतावादी विचारक यहाँ तक कहते हैं कि राज्यविहीन समाज में ही व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार उन्नति के अवसर प्राप्त किये जा सकते हैं।

दूसरी विचारधाराओं के अनुसार, स्वतन्त्रता कानून के द्वारा ही सम्भव

होती है, तथा राज्य का कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। लॉक के अनुसार, "जहाँ कानून नहीं होता, वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं रह सकती।"[1]

कानून और नैतिकता (Law and Morality)

हमारी प्राचीन संस्कृति में कानून और नैतिकता को पृथक नहीं समझा जाता था। प्राचीन भारत में 'धर्म' शब्द, कानून और नैतिकता दोनों के लिए उपयोगी होता था। इसी तरह यूनानी विचारधारा में भी कानून और नैतिकता को एक दूसरे से अभिन्न माना जाता था। नैतिकता कानून की प्रथम मंजिल है। कानून विहीन नैतिकता उस विधवा के समान है जिसको समाज के व्यक्ति घृणा की तरह देखते हैं। कानून को यदि शरीर मान लिया जाय तो नैतिकता उसकी आत्मा है। जिसके अभाव में कानून जीवित नहीं रह सकता। नैतिकता से कानून को बल मिलता है, क्योंकि उसमें सार्वजनिक हित की भावना होती है। नैतिकता ही कानून को पवित्रता तथा शुद्धता का मार्गदर्शन करती है। नैतिकता से गिरा हुआ कानून राज्य के हित में उचित नहीं होता, जनता भी ऐसे अनैतिक कानूनों के विरुद्ध क्रान्तिकारी कदम उठा सकती है। सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत हित जिस प्रकार से एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार कानून और नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं। विल्सन के अनुसार—"कानून देश की नैतिक प्रगति के दर्पण होते हैं।"

कानून और नैतिकता में भेद
(Distinction between Law & Morality)

कानून और नैतिकता दोनों ही विषय सम्बंधित होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। नैतिकता मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को उसके विचारों और उद्देश्यों को परिवेष्टित करती है। अतः नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य आचरण से नहीं उसका सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक विचारों और उद्देश्यों से होता है जबकि कानून मनुष्य के बाह्य कार्यों से सम्बन्ध रखता है। उसके उद्देश्यों और कार्यों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः नैतिकता का क्षेत्र कानून के क्षेत्र की अपेक्षा संकुचित होता है।

कानून राज्य द्वारा जारी किया जाता है और उसकी अवज्ञा होने पर दण्ड मिलता है। उसकी पीठ पर शक्ति की मान्यता है। दूसरी ओर, नैतिकता के

---

1 Where there is no law, there is no freedom
—Lock Quoted by Asirvatham (Political Theory, p 141)

नियमो को भग करने का अथ शारीरिक दण्ड नहीं है, यद्यपि इसका तात्पय सामाजिक तिरस्कार हो सकता है उनके परिणाम शारीरिक दण्ड से कही भयकर हो सकते हैं। नैतिक निन्दा, सम्भवत, एक व्यक्ति का सामाजिक रूप म हीन कर सकती है, किन्तु इसका अथ शारीरिक दण्ड नही है, नतिकता की पीठ पर सावजनिक निन्दा की स्वीकृति है। इस तरह कानून शक्ति का विषय है और नतिकता चेतना या विवेक का। कानून का स्वरूप व्यापक और सावजनिक होता है और यह सब पर समान अवस्थाओ म लागू होता है। नतिकता वयक्तिक है और हर आदमी म भिन्न होती है। यह व्यक्ति के हृदय या विवेक की आज्ञा है। कानून स्पष्ट और निश्चित है, क्योकि वह व्यापक है। नतिकता सदिग्धता और अनिश्चितता की मात्रा लिये हुए है, क्योकि इसका निजी व्यक्तित्व है।

नतिक नियम सही या गलत, न्याय और अन्याय के पूर्ण मापदण्डो की स्वीकृति देते है। किन्तु कानून उपयोगिता के मानदण्ड का अनुसरण करता है। कानून जिसकी मनाही करता है, वह सम्भवत अनतिक काम न हो, बडे शहर के तग बाजारो म दाइ ओर गाडी चलाना एक सामाजिक भय है, और इसलिए उसकी मनाही है, किन्तु दाइ ओर गाडी चलाना अनतिक नही है यद्यपि यह कानून-विरुद्ध है। ऐसी भी कई बात हो सकती है जो अनतिक हैं किन्तु कानून विरुद्ध न हो। घुडदौड म दाव लगाना या क्लब म पोकर (एक प्रकार का जुआ) खेलना अनतिक हो सकता ह, किन्तु दोनो म से कोई भी अवैध नही है। राज्य प्राय ऐसे कानूनो को बनाता है, जो नतिकता के मानदण्डो की अपेक्षा उपयोगिता और सुविधा पर अधिक आश्रित होते है। इसी प्रकार, राज्य के कानून नतिक अधिकारो की मान्यता नही अपनाते। राज्य केवल नागरिक अधिकारो के भोग की गारण्टी करता है। यह मेरा नैतिक कत्तव्य है कि मैं अपने मा बाप की सहायता और सेवा करूँ, क्योकि माँ बाप के पास अपने बच्चा से इस सेवा की माग करने का नतिक स्वत्व है। यदि म अपने नैतिक कत्तव्य के प्रति जागरूक नही हू और मैं कत्तव्यहीन पुत्र साबित होता हू तो राज्य के कानून मुझे कत्तव्यनिष्ठ बनने के लिए बाध्य नही कर सकते। ऐसी स्थिति म वध रूप म मेरा दमन नही किया जा सकता।

इस तरह यह स्पष्ट हो जायेगा कि कानून नतिकता के सम्पूर्ण धरातल को न तो ग्राह्य करता है और न कर सकता है। समस्त नतिक दायित्व को वध दायित्व का रूप देने का अथ नतिकता को बर्बाद करना होगा। न ही राज्य नतिकता का निर्देश कर सकता है क्योकि राज्य निर्दिष्ट नतिकता नतिकता नही होती। उदाहरण के लिए, एक कानून जारी किया जाए कि प्रत्येक नागरिक हर

सवेरे मंदिर या गुरुद्वारा जाया करे। यदि कोई इस नियम का अनादर करे तो दण्ड का भागी होगा। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई व्यक्ति मंदिर या गुरुद्वारा जाने से नैतिक प्राणी बन जाता है। नैतिकता अन्तरात्मता का विषय है और इसका सम्बन्ध विश्वास से है। राज्य का कोई भी कानून इसे लागू नहीं कर सकता।

कानून और नैतिकता के बीच साम्य (Affinity between Law & Morality)—कानून और नैतिकता के बीच ऊपर कुछेक सुस्पष्ट अंतर दिए गये हैं और कोई भी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। तिस पर भी दोनों के बीच निकट सम्बन्ध हैं। राज्य की स्थापना उनके नागरिकों के हृदय में होती है और नागरिक उसके नैतिक प्रतिनिधि होते हैं। एक बुरे नागरिक का अर्थ है बुरा राज्य और फलस्वरूप, राज्य के कानून भी बुरे ही होंगे। प्लेटो (Plato) के कथनानुसार, 'सर्वोत्तम राज्य वह है, जो गुण में व्यक्ति के निकटतम है। यदि राजनीतिक संस्था का कोई अंग पीड़ित होता है, तो सम्पूर्ण शरीर को पीड़ा होती है। यह राज्य का शारीरिक दृष्टिकोण है और इससे ग्रीक राजनीतिक दर्शन का निर्माण हुआ। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत ने भी इसी दृष्टिकोण और विश्वास को स्वीकार किया है कि व्यक्ति और राज्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व को केवल राज्य के अन्तर्गत विकसित कर सकता है, जो व्यक्ति के नैतिक जीवन की सर्वोच्च दशा है। राज्य व कानून नैतिकता के मापदण्ड को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार, सही और गलत विचार, जो लोगों के नीतिशास्त्र-विषयक मानदण्डों का प्रतिनिधित्व करते हैं, राज्य के कानूनों को भी प्रभावित करेंगे।

राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन की सर्वोच्च अवस्था है। इसलिए, राज्य का नैतिकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का है—भावात्मक और अभावात्मक। राज्य का भावात्मक या सकारात्मक कार्य (positive function) ऐसे कानूनों का बनाना है, जो सामान्य प्रसन्नता और सुख की वृद्धि के लिए हैं, और समुदाय के महत्वपूर्ण भागों के नैतिक विश्वासों तथा भावनाओं के अनुरूप है। उदाहरण के लिए, भारत सरकार अस्पृश्यता को दूर करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। केवल जन्म के संयोगवश आदमी और आदमी के बीच अंतर करना नैतिक पाप है। इसी तरह मद्य निषेध करना लोगों के हित की बात है। फलतः, भारत संघ ने कई राज्यों द्वारा मद्य-निषेध (prohibition) की नीति का अनुसरण करना भावात्मक अथवा सकारात्मक कृत्य (positive function) है। किंतु जब राज्य एक बुरे कानून को हटाता है, तो वह निषेधात्मक कृत्य (negative

function) का पालन करता है। सती और ठगी को अवध काय घोषित किया गया, क्योंकि वे हमारे जीवन मापदण्ड के अनुरूप नहीं थे।

इस प्रकार, कानून और नतिकता के बीच इतनी घनिष्ठ आत्मीयता है कि अवध और अनतिक के बीच का सीमान्त सदैव स्पष्ट नहीं होता। आज की अवधता कल की अनतिकता हो सकती है और इसके विपरीत भी। राज्य के विषय म हमारा विचार है कि यह स्वत अपने मे लक्ष्य नहीं है, किन्तु लक्ष्य के लिए साधन है। हम राज्य को नतिकता की बात के रूप म मानते हैं। राज्य और कानून निरंतर सावजनिक मत और कार्यों—दोनों को प्रभावित करते हैं, इसके बदले म कानून सावजनिक मत को प्रकट करता है और इस प्रकार विधि नतिक उन्नति के सूचनाक (index) के रूप म काय करती है।

कानून और नतिकता का सम्बन्ध सदा से बडा घनिष्ठतापूर्ण रहा है। प्रारम्भिक समाज म कानून और नैतिकता प्राय एक से होते थे। जो कुछ नतिकता कहती थी, वही कानून होता था। नतिकता और कानून का वह सम्बन्ध अब भी किसी न किसी रूप मे चला ही आ रहा है यदि आधुनिक कानूनों पर विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि उनमे उन्हीं आदर्शों और विचारों को कानूनी मान्यता प्रदान की जाती है जो नतिक दृष्टि से मान्य होते हैं। वस्तुत जब कोई नतिक मान्यता बहुसंख्यक जनता द्वारा स्वीकार कर ली जाती है, तो उसी को राज्य कानून का रूप द देता है और वही नतिक मान्यता राजकीय कानून हो जाती है। किसी देश का नतिक स्तर कसा है इस सम्बन्ध म हम बहुत कुछ उसके कानूनों के अध्ययन से जान सकते हैं। नतिकता और कानून का सम्बन्ध हम दो रूपों में पाते हैं। दोनों के सम्बन्ध का एक रूप यह होता है कि कानून को नतिकता की धारणा पर आधारित होना चाहिये तभी उसका पालन उन लोगों द्वारा स्वेच्छापूर्वक और सरलतापूर्वक हो सकेगा, जिनके लिये उसे बनाया जाता है। दोनों के सम्बन्ध का दूसरा रूप यह होता है कि कानून ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे हमारी नैतिक मान्यताओं का आघात पहुँचे।

समाज–कल्याण की दृष्टि से कानून और नतिकता का महत्व प्राय समान–स्तरीय है। दोनों प्राय उन बातों का निषेध करते हैं जो समाज कल्याण की दृष्टि से निषिद्ध हों। उदाहरणार्थ, चोरी करने को यदि नतिकता की दृष्टि से निषिद्ध माना जाता है तो उसे कानून की दृष्टि से भी निषिद्ध माना जाता है। उन अनेक कार्यों को जिन्हें अनतिक माना जाता है गैरकानूनी भी माना जाता है। प्रकार दोनों ही उस बात का समर्थन करते हैं, जो समाज–कल्याण के लिये

उपयोगी होते है। जिन कार्यों को नैतिकता का समथन प्राप्त होता है, उन्हे कानून भी स्वीकृति दे देता है और फिर नतिक्ता की तत्सम्बन्धी मान्यताओं के विरुद्ध चलना दण्डनीय हो जाता है। इस प्रकार नैतिकता कानन की सहगामिनी होती है। इस सम्बन्ध मे यदि और अधिक औचित्य के साथ कहा जाय तो यह कहना चाहिए कि कानून नैतिकता का अनुसरण करता है। बिना नतिकता का सहारा लिए हुए कोई कानून नही चल सकता। उदाहरणाथ, भारतवर्ष म मद्य-निषेध सम्बन्धी कानून सवत्र पूणत सफल नही हो रहा है, क्योंकि उसे लोगो का नतिक समथन प्राप्त नही है। बाल-विवाह सम्बन्धी शारदा एक्ट का भी यही हाल हुआ है और वह एक मृत कानून के रूप म पडा हुआ है क्योंकि उसकी व्यवस्था के अनुकूल अभी समाज का नतिक स्तर नही है। इस सम्बन्ध मे जो नतिक प्रवृत्ति चल रही है उससे सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् देश का नैतिक वातावरण उसकी व्यवस्था के अनुकूल हो जाये और वह एक क्रियाशील कानून बन जाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिकता कानून को प्रभावकारी और क्रियाशील बनाने म सहायक होती है।

एक ओर यदि नैतिकता कानून की सहायता करती है, तो कानून भी नैतिक स्तर को उठाये रखने मे सहायक होता है। उदाहरण के लिये, हम चोरी करने को ले सकते हैं। यदि चोरी करने का काय कानून द्वारा दण्डनीय न रखा जाय तो यह पूणत सम्भव है कि लोग चोरी करने लग जायेंगे और इस प्रकार कानून की सहायता के बिना देश का नतिक स्तर गिर जायगा। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नतिक जीवन कानूनों की उचित व्यवस्था के अन्तगत ही सम्भव होता है। कानून की सहायता के बिना नैतिक जीवन के स्तर को ठीक बनाये रखना असम्भव ही है।

वस्तुत कानून और नतिकता परस्पर अन्योन्याश्रित हैं और वे सदा एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहते हैं। यदि कानूनों का रूप नतिक मापदण्डों के अनुकूल बदलता रहता है और इस प्रकार नतिकता कानूनों को प्रभावित करती रहती है, तो कानूनों की व्यवस्था के अनुकूल नतिकता का स्तर गिरता और उठता रहता है और इस प्रकार कानून नतिकता को प्रभावित करता रहता है।

कानून और नैतिकता मे अन्तर
(Difference between Law & Morality)

कानून और नतिकता का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुये भी उन दोनो म बडा अन्तर है। दोनो के अन्तर का विवेचन हम निम्न प्रकार स कर सकते है

क्षेत्र सम्बन्धी अ तर—कानून और नतिक्ता म क्षेत्र सम्ब धी अन्तर है। कानून के क्षेत्र मे व्यक्ति के बाहरी काय आते हैं। उसर्क विचारा और उद्देश्या से इसका कोई सब ध नही हाता। दूसरी ओर नैतिक्ता के क्षेत्र म व्यक्ति का सम्पूण जीवन आ जाता है। नैतिक्ता का सम्ब ध व्यक्ति क बाह्य आचरण स ही नहीं हाता। उसका सब ध व्यक्ति के आन्तरिक विचारा और उद्देश्यो स भी होता है। इस प्रकार हम देखत हैं कि नैतिक्ता का क्षेत्र कानून के क्षेत्र की अपक्षा अधिक व्यापक और कानून का क्षेत्र नतिक्ता के क्षेत्र की तुलना म सकुचित है।

मा यता सम्बन्धी अ तर—कानून और नैतिक्ता म मान्यता या स्वीकृति की दृष्टि से भी अन्तर होता है। दूसरे शब्दा म, दोनो को प्रवर्तित करने वाली सत्ताओ मे भेद है। कानून को राजसत्ता की मा यता प्राप्त होती ह और वे राज्य द्वारा प्रवर्तित किये जाते हैं। जो लोग कानूनो का उल्लघन करते हैं, राज्य उ हे दण्ड देता ह। पर नतिक्ता के विषय म यह बात नही होती। इसम सन्देह नही कि नैतिकता सामाजिक स्तर के अनुसार हाती ह और किसी रूप म यह भी कहा जा सकत है कि समाज नैतिक्ता का प्रवतक एव उसे मान्यता देने वाला होता ह, पर उसके उल्लघन की दशा मे समाज की ओर से उसके लिए दण्ड देने की कोई निश्चित व्यवस्था नही होता है। ऐसा होता ह कि यदि कोई व्यक्ति किसी अनतिक कृत्य को करे तो वह स्वय प्रायश्चित कर सकता है अथवा समाज उसे बुरा कह सकता है पर कानून के उल्लघन जसी निश्चित दण्ड व्यवस्था नतिकता के उलघन के लिय नही पाई जाती।

प्रकृति सम्बन्धी अ तर—कानून और नैतिक्ता म प्रकृति का भी अन्तर हाता है। दोनो की प्रकृतियां भिन्न भिन्न हाती हैं। कानून नतिक सिद्धान्ता की अपेक्षा अधिक निश्चित होत है क्योकि उनका निर्माण निश्चित विधिपूवक विधान-मण्डलो द्वारा होता है तथा उसका क्रिया वयन भी एक निश्चित विधि के अनुसार होता है। इसके अतिरिक्त कानून सब व्यक्तियो के लिए एकसा होता है और सभी व्यक्तियो को उसका पालन समान रूप से करना होता ह अन्यथा उल्लघनकर्ता दण्ड के भागी होते ह। नतिक्ता की प्रकृति म अनिश्चितता पाई जाती है। नैतिक सिद्धान्त उतने निश्चित नहा होत जितने निश्चित कानून के नियम होते ह। उनका निर्माण सामाजिक आचार विचार की अनिश्चित प्रक्रिया द्वारा धीरे धीरे होता ह। इसके अतिरिक्त नतिकता कानून की तरह सब व्यक्तियो के लिए एक समान भी नही हो सकती और न उसका पालन सभी के लिए उस प्रकार अनिवाय हाता है जिस प्रकार कानून का पालन। नतिक्ता यक्तिगत वस्तु ह और उसके प्रयोग

मे व्यक्तियो के अन्तर के साथ अ तर हो सकता है। उदाहरणार्थ, हम दान पुण्य को ले सकते है। यह एक ओर यदि कुछ लोगो के अनुसार ऐसी नैतिकता है जिस पर सभी को चलना चाहिए, तो दूसरी ओर कुछ लोगो के अनुसार ऐसी अनैतिकता है, जिससे समाज मे अकमण्यता फलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कानन की प्रकृति यदि निश्चित और सावभौमिक है, तो नतिकता की प्रकृति अनिश्चित एव व्यक्तिगत है।

मापदण्ड सम्बन्धी अन्तर—कानून सामाजिक उपयोगिता पर चलता है, जबकि नैतिकता सामाजिक औचित्य पर चलती है। दूसरे शब्दो मे, यह कहना चाहिए कि कानून का मापदण्ड उपयोगिता एव नतिकता का मापदण्ड औचित्य होता है। सभी कानून नैतिकता पर उतने आश्रित नही होते जितने कि वे उपयोगिता पर आश्रित होते हैं। उन सभी बातो को जि ह नैतिक समझा जाता है कानून द्वारा बढावा नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, दान–पुण्य करना नैतिक है पर समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता विवादग्रस्त होने के कारण उसे कानून द्वारा अनिवाय नही किया जाता है। इसी प्रकार उन सभी बातो का जिन्ह नैतिक दृष्टि से निषिद्ध समझा जाता है कानून द्वारा निषिद्ध और अकाय घोषित नही कर दिया जाता। उदाहरणार्थ, आदमी द्वारा चलित रिक्शे पर बैठकर यात्रा करना अनतिक है, पर उसे कानून द्वारा निषिद्ध तथा अकाय घोषित नही किया जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि सब नैतिक बातें कानूनी नही तथा सब अनैतिक बातें गर कानूनी नही होती, और न कानूनी बाते नतिक होती है तथा न सब गर कानुनी बातें अनैतिक होती है। कानून का मापदण्ड सामाजिक उपयोगिता और नैतिकता का मापदण्ड सामाजिक औचित्य है और इस प्रकार दोनो म मार–दण्ड सम्ब धी भिन्नता पाई जाती है।

कानूनो के पालन की समस्या—कानून का पालन हम सभी करत है। इस सम्ब ध म यह विवाद बडा महत्वपूण रहा कि क्या व्यक्ति कानूनो का पालन इसलिये करता है कि ऐसा करना उसके लिए अनिवाय है अथवा वह उसका पालन स्वेच्छापूवक करता है। कानून के स्वरूप क सम्ब ध म जितनी विचार–धाराए हैं इस सम्बन्ध मे भी प्राय उतनी ही विचारधार ए हैं। जो लोग कानून को राजसत्ता को आ ना मात्र मान्त हैं, उनका विचार है कि व्यक्ति कानून का पालन दण्ड के भय से करता है। बेन्थम (Bentham) तथा हॉब्स (Hobbes) इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक हुये हैं। जो विचारक कानून को ऐतिहा–सिक विकास का परिणाम मानत हैं, उनक मतानुसार कानून का पालन व्यक्ति

इसलिए करता है कि वह उन परम्पराओं पर आधारित होता है जिनका व्यक्ति धीरे धीरे अभ्यस्त हो जाता है। इसी प्रकार समाजशास्त्रीय विचारधारा के अनुसार व्यक्ति कानून का पालन इसलिये करता है कि उससे उसका कल्याण होता है, और इसलिए नही कि उसे उसका पालन करना अनिवार्य है। जिस प्रकार कानून की प्रकृति किसी एक विचारधारा द्वारा पूर्णत प्रतिपादित नहीं होती, उसी प्रकार कानून का पालन व्यक्ति क्यों करता है, इस प्रश्न का उत्तर किसी एक विचारधारा द्वारा पूर्णत नही दिया जा सकता। वस्तुत कानून का पालन व्यक्ति अनेक कारणों से करता है जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

दण्ड का भय—व्यक्ति कानून का पालन दण्ड के आधार पर करता है, दण्ड का भय होता है। राज्य एक सर्वोच्च सत्ता से युक्त संस्था होती है। कानून उसके आदेश होते हैं, अत यदि उसके कानून का पालन न किया जाय, तो वह व्यक्ति को दण्डित कर सकती है और व्यक्ति के पास उसका विरोध करने की कोई शक्ति नही होती। राज्य के उस दण्ड के भय से, जिसका प्रतिकार करने मे व्यक्ति असमर्थ होता है, वह उसके कानूनो का पालन करता है। वस्तुत व्यवहारिक जीवन मे हम ऐसा ही होते देखते हैं। यदि कानून का उल्लघन करने वालो के लिए दण्ड की व्यवस्था न हो, तो यह पूर्णत सम्भव है कि अपने अनुचित स्वार्थ के वशीभूत होकर अधिकतर लोग कानून की अवहेलना करना प्रारम्भ कर देंगे। ऐसा होने से चूकि अराजकता फल जायेगी, इसलिये राज्य की ओर से कानून का उल्लघन करने वालो के लिए दण्ड की व्यवस्था होती है और उस दण्ड के भय से व्यक्ति कानून का पालन करते हैं।

अभ्यास—एक अन्य कारण जिसके आधार पर व्यक्ति कानून का पालन करता है, उसका कानून के पालन करने का अभ्यस्त होना है। व्यक्ति एक परिवार का सदस्य होता है। परिवार मे बाल्यावस्था से ही वह अपने बडो की आज्ञा मानने का अभ्यस्त हो जाता है और आगे चलकर बड़े होने पर अपने उसी अभ्यास के कारण राज्य के कानूनो का भी पालन करने लगता है। इसके अतिरिक्त कानूनों के पालन करने का अभ्यास व्यक्ति को एक और प्रकार से भी होता है। समाज मे रहते हुए व्यक्ति अनेक सामाजिक नियमो प्रथाओ और परम्पराओ का पालन करता है और उनके पालन का वह अभ्यस्त हो जाता है। कानून भी अधिकतर उन्हीं प्रथाओ और परम्पराओ पर आधारित होते हैं। अत व्यक्ति अपने पूर्व अभ्यास के कारण कानूनो का पालन भी उसी प्रकार करने लगता है जिस प्रकार वह प्रथाओ और परम्पराओ का पालन करता है।

सामाजिक कल्याण – एक अन्य कारण जिसके आधार पर व्यक्ति कानून का पालन करता है, उसकी सामाजिकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका अस्तित्व समाज में ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में, यह कहना चाहिए कि समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति को जो सुविधाएं प्राप्त होती हैं, उनके बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार कुछ सुविधायें चाहता है जिससे वह अपना जीवन सुखमय बना सकें। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति सुविधाएं चाहता है, इस प्रकार की सुविधाओं की प्राप्ति की प्रक्रिया पारस्परिक हो जाती है। एक व्यक्ति अपने लिए सुविधाओं की प्राप्ति तभी कर सकता है, जब उसी प्रकार की सुविधाएं वह अन्य व्यक्तियों को देने के लिए भी तैयार रहे। कानूनों के द्वारा चूंकि व्यक्ति की पारस्परिक सुविधाओं की व्यवस्था होती है, अतः वह अपनी सामाजिकता के कारण कानूनों का पालन करता है।

अधिकार रक्षा—एक अन्य कारण जिसके आधार पर व्यक्ति कानूनों का पालन करता है, यह है कि कानूनों के कारण उसके अधिकारों की रक्षा होती है। राजकीय व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं और इन अधिकारों की व्यवस्था का संचालन कानूनों द्वारा होता है। कानून व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और उसी प्रकार व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धों का निर्धारण करता है। सवत्र वह सम्बन्ध ठीक बने रहें और लोगों के अधिकारों की रक्षा होती रहे, इसलिए व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह उन अधिकारों की रक्षा करने वाले कानूनों का पालन करता रहे। कानून के उल्लंघन से अव्यवस्था फैलती है और अव्यवस्था की दशा में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती, इसलिये अपने अधिकारों की रक्षा के लिए व्यक्ति कानून का पालन करता है।

विवेक—कुछ लोगों के मतानुसार व्यक्ति कानून का पालन इसलिए करते हैं कि वे उनके विवेक पर खरे उतरते हैं। [illegible] ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है और कहा है कि "कानून के पालन न करने से हम दण्ड मिलेगा, इस भय से हम कानून का पालन नहीं करते। हम कानून का पालन इसलिये करते हैं कि हम उसे [illegible] और [illegible] [illegible][1]

---

1 We obey law because it appears to us [illegible] because of fear of [illegible]

लॉस्की ने भी इसी मत का समर्थन किया है और कहा है कि "वे (अर्थात् नागरिक) अपनी स्वीकृति प्रदान करके कानून को वैध बनाते हैं। वे अपनी स्वीकृति इसलिये देते है कि वह (कानून) उनकी इच्छाओं की पूर्ति करता है। अतएव अच्छा कानून केवल वही हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप इच्छाओं का अधिक से अधिक तुष्टीकरण हो तथा अच्छे कानून के अतिरिक्त और किसी कानून का पालन औपचारिक रूप से भले ही हो जाय, वास्तविक रूप में वह पालन करने के योग्य नही हो सकता।"[1] मनुष्य विवेकशील प्राणी होता है और यह मानना कि वह अपने अन्य कार्यों की तरह कानून का पालन भी अपने विवेक के आधार पर करता है, असंगत नही है। पर इस बात को मानने मे हमारे समक्ष एक यह कठिनाई आती है और वह कठिनाई अत्यन्त गम्भीर है। व्यक्ति द्वारा कानूनों का पालन व्यक्तिगत विवेक के आधार पर होता है, इसके मान लेने का अर्थ है कि यदि कोई कानून किसी व्यक्ति के विवेक पर खरा नही उतरता तो वह उसका पालन न करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। लास्की का मत तो इस सम्बन्ध मे जहा तक है कि व्यक्तियों को यदि वास्तविक रूप से नागरिक होना है तथा समाज की उन्नति मे अपना उचित योग देना है, तो उन्हे अपने विवेक का प्रयोग करना सीखना चाहिये। लास्की के कथन का तात्पर्य यही है कि यदि व्यक्ति के विवेक की कसौटी पर कानून खरा नही उतरता तो वह उसका पालन न करने के लिये ही स्वतन्त्र नही है, अपितु वह उसका विरोध करने का भी अधिकारी है।

इस सम्बन्ध मे दूसरी ओर से जो बात कही जाती हैं वह यह है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को राज्य द्वारा प्रचलित कानूनों की अच्छाई बुराई देखने का अधिकारी मान लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि उन कानूनो को न मानने के लिये वह स्वतन्त्र है, जो उसके विवेक के अनुसार दोषपूर्ण है तो इसका एक ही परिणाम हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य और प्रत्येक कानून के विषय मे भिन्न-भिन्न तरह सोचे और अपनी-अपनी इच्छानुसार उसे मानें अथवा न मानें तथा इस प्रकार की अस्त-व्यस्तता के कारण समाज मे अराजकता फैल जाये।

---

1 They make law valid by consenting to it They consent to it as it satisfies their desires A good law therefore is a law which has its result the maximum possible satisfaction of desires and no law save a good law is except in a formal sense entitled to obedience as such " —Laski

पर ऐसा कोई अधिकार व्यक्ति को देना राजनैतिक अथवा सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं हो सकता जिसके प्रयोग के परिणामस्वरूप अराजकता फैल जाये। अत विचारणीय यह है कि अपने विवेक के अनुसार राज्य द्वारा प्रचलित कानूनों की अच्छाई या बुराई को देखने और उस पर चलने या न चलने का अधिकार व्यक्ति को प्राप्त होना चाहिये अथवा नहीं।

इस आधार पर कि ऐसा अधिकार देने से अराजकता फैल सकती है, यदि यह व्यवस्था की जाय कि इसे इस प्रकार का अधिकार नहीं होना चाहिये तो एक ओर यदि व्यक्ति का महत्व ही समाप्त हो जायगा तो दूसरी ओर राज्य की निरंकुशता बढ़ती जायेगी। यह सामाजिक हित की दृष्टि से वांछनीय नहीं है। इसी प्रकार यदि यह अधिकार व्यक्ति को दिया जाय तो उसका तात्पर्य अराजकता हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में इस सम्बन्ध के मध्य का मार्ग [illegible] उचित होगा। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, अत यह निश्चित है कि [illegible] विवेक का प्रयोग कानूनों की अच्छाई या बुराई देखने के लिये [illegible] मिलना चाहिये। परन्तु सभी राजनैतिक अधिकारों की [illegible] भी निरंकुश न होकर व्यवस्थित एवं मर्यादा युक्त [illegible] कि [illegible] विवेक द्वारा कानून की अच्छाई या बुराई देखे, [illegible] करें, परन्तु यदि उसके विवेक का [illegible] नहीं [illegible] तो उसे उस कानून की अवज्ञा [illegible] अथवा अव्यवस्था फैले। [illegible] कानून को [illegible] अथवा समाप्त करवाने के लिये वैधानिक [illegible] चाहिये। इस प्रकार कानूनों का सुधार भी हो सकता [illegible] भी हो सकता।

विधि एवं लोकमत (Law & Public O[illegible])

पहली विचारधारा लोकमत विस्तृत अर्थ

कानून और लोकमत म गहरा सम्बन्ध है। कानून लोकमत के बिना नहीं रह सकता। जब लोकमत कानून के विरुद्ध हो जाये तो उसका पालन नहीं होता। लोकमत का आधार कुछ न कुछ लोगों के हित की पूर्ति करना होता है, चाहे वह हित पूर्ति भ्रामिक हो। फ्रीडमैन ने इसका दृष्टा त—नाजी जमनी के राज्य और साम्यवादी रूस के राज्यो से दिया है। नाजी राज्य अत्याचारी राज्य था। लोगों को ज्यादा काम करना पडता था। यहूदियो का दमन किया जाता था। उनको गुप्त पुलिस का हर वक्त डर रहता था। मे थी, क्योंकि वह यह समझती थी कि नाजी सरकार देश के हित के लिए काय कर रही है, जमन जाति का नाम ऊँचा कर रही है परन्तु जब नाजी कानून ने पत्नी को पति के विरुद्ध शिकायत करने वाली उसे नाजी सरकार के विरुद्ध पोषित कर उससे विवाह विच्छेद करने का अवसर दिया तो परिवारो का विघटन होने लगा तो जमन जनता नाजी सरकार के विरुद्ध हो गयी और नाजी सरकार को सदेह से देखा जाने लगा और अन्त म, युद्ध में नाजी सरकार की हार हुई। साम्यवादी रूस ने कानून द्वारा जनता की स्वत त्रता के ऊपर तरह तरह के रोक लगाये परतु उसने जनता के दूसरे हितो की पूर्ति की। एक अशिक्षित समाज को शिक्षित समाज बनाया रोटी रोजी की समस्या को सुलझाने की कोशिश की। देश का गौरव बढाया। लोकमत इस सरकार के विरुद्ध नहीं है।

मुस्लिम राज्यो म भी पाश्चात्य विचारो के और औद्योगिक युग के प्रभाव के कारण लोकहितों म परिवतन हो रहा है और कानून धीरे धीरे धम के प्रभाव से दूर हो रहा है। अत कानून और लोकमत म वहीं एक गहरा और व्यापक सम्ब ध है। लम्बे अर्से तक कानून लोकमत के बिना नही रह सकता। लोकमत मूक हो सकता है अप्रत्यक्ष भी हो सकता है वह निष्क्रिय हो सकता है, अव्यक्त हो सकता है पर होता जरूर है। उसके अस्तित्व पर स देह नही किया जा सकता। इस विचारधारा के नपथ्य में समाज सविदा की विचारधारा दिखाई देती है। इससे यह निष्कष निकलता है कि कानून और राज्य दोनों समाज के रूप हैं और सामाजिक मत से सचालित होते हैं।

दूसरी विचारधारा लोकमत का सीमित अर्थ

डाईसी ने लोकमत का भौतिक रूप देखा है और यह बताया है कि लोकमत जो कानून को प्रभावित करता है हर जगह हर समय नहीं पाया जाता है। जनता की आवाज दबाई जा सकती है, उसका गला घोंटा जा सकता है। अशिक्षित

लोगो म ग्रौर ग्रविकसित समाजो मे, रीति रिवाज से चलने वाले लोगो म लोकमत नही हो तो वे जागरूक नही होते ग्रौर कानून के बारे मे ग्रपना मत जाहिर नही करते न कानून उनके मत के द्वारा बनाया जाता है। ग्रत कानून के द्वारा उन पर ग्रत्याचार भी होता है, शोषण भी होता है तो भी वे स्वीकार करते है ग्रौर स्त्रियो से वे ग्रहितकारी कानूनी व्यवस्था के विरुद्ध ग्रावाज नही उठाते। कानून बिना लोकमत के भी बनाया जा सकता है। लोकमत को प्रकट करने के लिए यथोचित साधन होने चाहिएँ। लोग जागरूक होने चाहिएँ, प्रजातन्त्रीय ढाचा होना चाहिये, जैसे 19वीं शताब्दी में इगलैड मे था। लोकमत के तीन पक्ष होते हैं। प्रमुख मत जिसको डाईसी ने बहुसख्यक का मत या प्रमुख या प्रबल लहर या धारा कहा है। विरोधी मत जिसको उसने विपक्षीधारा बताया ग्रौर विशेष सामाजिक हितो का मत जिसको उसने रास्ता काटने वाली ग्रौर ग्रपने हितो का सरक्षण करने वाली ग्रौर रियायतें प्राप्त करने वाली धारा कहा है। लोकमत की रस्सी तीन डोरियो के द्वारा निर्मित होती है। ग्रपनी ग्रादर्श ग्रवस्था लोकमत कानून का निर्माण करता है। कानून लोकमत को लिखित कर उसका समर्थन प्राप्त करता है। ग्रत हर जगह लोकमत की लहरें दृष्टिगोचर नही होती ग्रत कानून ग्रौर लोकमत मे व्यापक सम्बन्ध नहीं होता। डाईसी की विचारधारा 19वी सदी ब्रिटिश उपनिवेशवाद ग्रौर साम्राज्यवाद को बल देती है क्योकि साम्राज्यशाही मे उपनिवेशो म जनता के विरुद्ध कानून थोपा जा सकता है। ग्रत डाईसी ने लोकमत ग्रौर कानून के भौतिक रूप पर ज्यादा बल दिया है।

भारत मे लोकमत (Public opinion in India)

डाईसी की तरह जूलियस स्टोन जैसे विद्वान ने भी लोकमत का भौतिक रूप देखकर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि भारत म कानून को प्रभावित करने वाले लोकमत की कमी है क्योकि—

प्रथम जो योजनायें सरकार द्वारा बनाई जाती हैं उनमे भारत के 60 करोड लोगों की राय नही ली जाती।

दूसरे, यहाँ के लोग ग्रपना मत कानून के बारे मे प्रकट नही करते क्योकि ग्रधिकाश लोग गांवो मे रहते हैं ग्रौर शहरी सभ्यता से बिल्कुल दूर हैं।

तीसरे, वे परिवार, जाति ग्रादि के बन्धनो से बधे हुए है। ग्रत कानून के बारे म कोई विशेष दृष्टिकोण नही रखते।

चौथे, मुस्लिम ग्रौर ग्रग्रेज शासको ने भारतीय ग्रामीण जनता को दण्ड देने,

उससे कर वसूल करने, वेगार नेने के सिवाय कुछ नही किया जिसस सरकार श्रौर जनता मे सम्पक स्थापित नही हुग्रा ।

पाँचवें, हि दू घम की मा यता है कि जो कुछ भाग्य म लिखा होता है वही होता है, इस ज म का दु खो जीवन पूवज म का फल है श्रौर इस ज म म कष्ट उठाने से श्रागे का ज म सुखो होगा । ऐसी श्रवस्था म वे कानून के बारे मे कोई मत व्यक्त नही करते ।

छठे, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम श्रान्दोलन भारतीय परम्पराश्रो की पृष्ठभूमि मे किया गया श्रत स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न राजनतिक दलो को लोकमत का सहारा लेने की श्रावश्यकता ही नही हुई ।

सातवें, यहा के श्रधिकाश लोग निरक्षर श्रौर श्रनपढ हैं । वे श्रपना मत ही प्रकट नही करते । ऐसी श्रवस्था मे पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित श्रल्पसख्यक शिक्षित लोग ही कानून निर्माण का काय कर रहे हैं श्रौर श्रौद्योगीकरण के लिए योजना बना रहे हैं । प्रौढ मत के कारण परम्परागत विचार उनके रास्ते के रोडे बन रहे हैं एव उनके बनाए गये कानून का ठीक प्रवतन नही होता श्रौर शासकवग को समय समय पर रियायतें देनी पडती हैं ।

जो लोग भारत को श्रागे ले जाना चाहते हैं, उनके सामने एक विकट समस्या है । एक श्रोर तो पुरानी सभ्यता श्रपना श्रस्तित्व बनाये रखने के लिए दम तोड रही है, तो दूसरी श्रोर नयी सभ्यता श्रपना डका जमाने का निरन्तर प्रयत्न कर रही है ।

यह तो है श्रचेतन रूप से उपनिवेशवाद श्रौर साम्राज्यशाही से प्रभावित भारतीय लोकमत के बारे म निणय जो डाईसी की विचारधारा से सीधा प्रभावित दिखाई देता है । फ्रीडमैन की विचारधारा को मानकर यदि हम स्वय देखें तो हमको लगेगा कि भारत मे लोकमत का कभी श्रभाव नही रहा है । निश्चित तौर से देखा जाय तो इग्लैंड श्रौर श्रमेरीका म भी हमेशा नागरिक कानून के बारे मे जागरूक नही रहते वहाँ भी क्षेत्रीय भावनाएँ श्रौर वग भावनाएँ, रगभेद की भावनाएँ सबल है । रगभेद के विरुद्ध लोकमत होते हुए भी उसको मिटाने के लिए कानून नही बनाये जाते । वास्तव मे लोकमत सामाजिक भावना श्रौर राष्ट्रीय चेतना का दूसरा नाम है श्रौर उसी से बडे-बडे परिवतन होते हैं, चाहे उसमे ज्यादा देर लग जाय पर यह सिद्ध है कि एक समाज या राष्ट्र को श्र निम तौर से कुचला नही जा सकता श्रौर वहाँ लोकमत को हमेशा के लिए शा त नही किया जा सकता । जब

तक अंग्रेजों ने शांति व्यवस्था, रेलमार्ग निर्माण, शिक्षा संचार आदि के कार्यों को भारत में किया तब तक लोकमत उनके साथ था, परन्तु जब उन्होंने मांग करने पर स्वतन्त्रता देने में आनाकानी की तो लोकमत ने प्रत्यक्ष में आकर उनका विरोध किया और उनको भारत छोड़ने पर मजबूर किया। आज जो भारतीय संसद योजनायें बना रही है ऊँच नीच का भेद मिटाने की कोशिश कर रही है। भूमि के बटवारे के लिए, न्यूनतम वेतन के लिए, सामाजिक न्याय के लिए, पूँजी के दुरुपयोग को मिटाने के लिए कानून बना रही है तो कौन भारतीय कह सकता है कि लोकमत इनके विरुद्ध है। सरकार सदियों से रुकी हुई प्रगति को बहुत ही जल्दी पूरी करने की कोशिश कर रहा है जिससे भारत दूसरे देशों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सके। जूलियस स्टोन के कटाक्ष का सही उत्तर तभी मिलेगा जब भारतीय लोकमत पूर्ण रूप से शिक्षित, सबल और सक्रिय हो जाये। हालांकि घटनाओं को देखने से भारतीय लोकमत में आश्चर्यजनक कानून सम्बन्धी चेतना दिखाई देती है।

जनमत सार्वजनिक मामलों पर जनता का वह मत होता है जो किसी समुदाय अथवा किसी वर्ग विशेष का न होकर जनसाधारण का हो, जो किसी क्षणिक आवेश का परिणाम न होकर स्थायी हो, और जिसमें लोक कल्याण की भावना निहित हो, और जिसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान में रखकर होती हो। अतः बेनीप्रसाद के अनुसार कहा जा सकता है कि "वही मत वास्तविक जनमत कहा जा सकता है जो जन कल्याण की भावना से प्रेरित होता हो"। जनमत प्रशासन में एक कुशल प्रहरी का कार्य करता है। जनमत ही सरकार के ऊपर एक अंकुश की भांति कार्य करता है। उसके भय से किसी भी प्रकार का शासन अपने स्वार्थ साधन का मन्त्र नहीं बना सकता। ह्यूम ने जनमत की परिभाषा देते हुए लिखा है कि—'सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों, अपनी शक्ति के लिए जनमत पर ही निर्भर होती हैं।' जहाँ जनमत जागरूक नहीं होता, वहाँ की सरकार मनचाहे कानूनों का निर्माण कर सकती है तथा जो सरकार जनमत का विरोध करती है, उसका पतन भी निश्चित होता है। जनमत प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से भी हो सकता है। जनमत और कानून दोनों ही सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में माने जाते हैं।

कानून और जनमत में अटूट सम्बन्ध है। कानून का निर्माण जनता की विपरीत अवस्था में नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ-जहाँ जनमत की अवहेलना की है वहाँ पर क्रान्ति का जन्म हुआ है। यदि सरकार [illegible] एकतन्त्र अथवा

त त्र है, तो भी शासक के लिए जनमत का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। जनमत के अभाव में कुशल शासन का संचालन नहीं किया जा सकता। जनमत की अवहेलना अधिनायकवादी शासक भी नहीं कर सके। शासन के प्रत्येक कार्य पर जनता का नियन्त्रण रखने और उन्नतिशील एवं व्यवस्थित समाज की स्थापना के लिए प्रभावशाली जनमत की आवश्यकता रहती है। जनमत द्वारा ही कानून बनते रहते हैं और बिगड़ते रहते हैं। जनमत द्वारा सरकार के बनाये कानूनों का इस उद्देश्य से निरीक्षण किया जाता है, जिससे नागरिकों के अधिकाधिक हित के लिए कार्य कर सके। जनमत ही वास्तविक शक्ति होती है, जो सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए विरोधी शक्तियों का डटकर मुकाबला करने में सफल हो सकता है। अत जनमत नागरिकों के अधिकारों व स्वतन्त्रता की भी रक्षा करता है।

यदि कानून और जनमत के बीच घनिष्ठता है तो कानून जनमत का अग्रणी और दास होना चाहिए। डॉ० मुहार के अनुसार, 'कानून केवल जनमत के आधार पर ही बने बल्कि कानून जनमत के आगे आगे भी चले"[1]। डा मुहार ने सती प्रथा बन्द करने वाले कानूनों का हवाला देते हुए कहा, "यदि लार्ड विलियम बैंटिक जनमत का रुख सती प्रथा के बन्द करने के लिए देखते, तो सम्भव है इस सामाजिक सुधार के लिए उन्हें कई वर्ष प्रतीत करने पड़ते और सती प्रथा के निषेध का कानून नहीं बन सकता"। अत कानून का निर्माण जनमत को दबा कर भी किया जा सकता है।

---

1 Law should not be only firmly rooted in public opinion, but should be a little ahead of it —Dr Muhar

राज्य एवं उसकी प्रकृति
(State & its nature)

3

'राज्य की न तो अन्तिम रूपरेखा ही है और न उसका निश्चित स्वरूप। राज्य सामाजिक मनुष्य का एक यन्त्र है। इसके परिवर्तन राज्य के साथ मानव के अनुभवों तथा उसकी स्वयं की बदलती हुई आवश्यकताओं की सूची है।''

—मेकाइवर

वर्तमान काल मे मनुष्य जीवन के प्रत्येक पहलु को राज्य ही सचालित कर रहा है। जितना अधिक हमारी सभ्यता म विकास होता जा रहा है उतना ही अधिक हम राज्य के बन्धनों म बधते जा रहे हैं। यह अवश्य सत्य है कि साम्य-वादी राज्य म व्यक्ति का प्रत्येक काय राज्य द्वारा ही सचालित होता है और [पूँ]जीवादी राज्य म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बनी रहती है परन्तु इन दोनों प्रकार [के] राज्यो म राज्य व्यक्ति को अपने बनाए हुए नियमो से बाहर नही जाने देता। [इत]ना ही नहीं, व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म भी [...]र प्रति दिन अधिकाधिक महत्व बढ़ता जा रहा है। साधारण बोल चाल [की भाष]ा म राज्य और सरकार का एक ही अर्थ म प्रयोग किया जाता है। लेकिन [यह] अनुचित है, क्योंकि सरकार ही राज्य का एक प्रमुख अग होती है। मनुष्य [के उत्]थान और विकास के लिये राज्य अति आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य [...] प्राप्त नहीं कर सकता। अरस्तु के अनुसार—'राज्य की स्थापना हम [...] रखने के लिए होती है, और जीवन को सुखी बनाने के लिए वह कायम [रह]ता है। जीवन की साधारण जरूरतो से तो राज्य का जन्म होता है और [...]छ जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना रहता है।''[1] राज्य सर्वप्र आव-

[1] [Th]e State comes in to existence originating in the bare needs [...] and continuing in existence for the sake of a good life

—1.

प्रथक ही नहीं है, बल्कि सभी सामाजिक संस्थाओं में सबसे अधिक व्यापक और सबसे अधिक शक्तिशाली भी है। मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास राज्य के अभाव में नहीं हो सकता। राज्य की उत्पत्ति ही मानव जीवन को अधिक से अधिक सुखी बनाने के लिए हुई है।

राज्य की परिभाषा (Definition of the State)

(1) विल्सन (Wilson)—राज्य वास्तव में एक विशिष्ट प्रदेश में सगठित रूप से रहने वाले व्यक्तियों का समुदाय है जिसमें उस समुदाय की सरकार बिना किसी अन्य सरकार के अधीन हुए अपने सदस्यों पर शासन करती है। विल्सन ने राज्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि "राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जो कि एक निश्चित प्रदेश में विधि द्वारा सगठित होकर रहता है।"[1]

(2) ऑस्टिन (Austin)—ऑस्टिन ने राज्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "राज्य राजा (Sovereign) का पर्याय है। यह एक ऐसे व्यक्ति को या कुछ व्यक्तियों के समूह को सूचित करता है जो राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र समाज में सर्वश्रेष्ठ शक्ति रखता है।"[2] यहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से तो ऑस्टिन ने राज्य की ओर ही इङ्गित किया है। उन्होंने वास्तव में राज्य के सरकार वाले तत्व पर अधिक जोर दिया है।

(3) यू०एन० उच्चतम न्यायालय (U N Supreme Court)-Chisholm v Georgia नामक अभियोग में सयुक्त राष्ट्र सघ के उच्चतम न्यायालय ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"राज्य ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों का समूह है जो सामान्य उद्देश्य को सामने रखकर आपस में सगठित हुए हैं कि वे उन वस्तुओं का जो उनकी स्वयं अपनी ही है, शान्तिपूर्ण लाभ उठा सकें और दूसरों के साथ न्याय कर सकें।"[3]

---

1 State is people organised for law within a definite territory —Wilson Element of Modern Politics p 52

2 The state is a usually synonymous with the Sovereign It denotes the individual person or the body of individual person which bears the supreme powers in an independent political society —Austin Jurisprudence, 4th Ed 249

3 State is ' a body of free persons united together for common benefit to enjoy peaceably what is their own and to do justice of others (U N Supr me Court held in Chisholm vs Georgia)

(4) हालैंड (Holland)—प्रमुख विधिशास्त्री डा. हालैंड ने राज्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'राज्य ऐसे व्यक्तियों का एक संगठन है जो आन्तरिक शान्ति तथा बाह्य सुरक्षा के लिए एक प्रदेश में रहते हैं।'[1] उन्होंने राज्य के तत्व व्यक्तियों के समूह, भूमि तथा आन्तरिक शांति एवं बाह्य सुरक्षा पर जोर दिया है। आन्तरिक शांति एवं सुरक्षा से तात्पर्य सरकार की स्थापना है।

(5) सामण्ड (Salmond)—राज्य राजनीतिक रूप में एक संगठित समाज होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए डॉ. सामण्ड ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है "राज्य या राजनीतिक समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह जो कुछ उद्देश्यों को कुछ निश्चित साधनों से प्राप्त करने के लिए बनाया जाता है।"[2] यहाँ पर सामण्ड ने व्यक्तियों के समूह पर तथा उन व्यक्तियों द्वारा कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति पर ही जोर दिया है राज्य के अन्य तत्वों पर इतना अधिक जोर नहीं दिया। सामण्ड ने भूमि तत्व पर तो किंचिमात्र भी जोर नहीं दिया।

(6) बेन्थम (Bentham)—बेन्थम ने राजनीतिक समाज की इस प्रकार परिभाषा दी है —"जब कुछ व्यक्ति (जिन्हें हम प्रजा कहते हैं) किसी ऐसे व्यक्ति का या व्यक्तियों के समूह की आज्ञा का पालन करते है जो कि परिचित या कुछ निश्चित विवरण के होते हैं (जिन्हें हम प्रशासक या प्रशासकगण कह सकते हैं), तो ऐसे व्यक्तियों को (जिसमे प्रजा तथा प्रशासक दोनों सम्मिलित है) एक राजनीतिक समाज कहा जाता है।[3]

(7) ओपेनहीम (Oppenheim)—ओपेनहीम ने अपनी पुस्तक Inter-

---

1 A state is an association of human beings generally occupying a territory for the attainment of internal order and external security —Holland

2 A state or political society is an association of human beings established for the attainment of certain ends by certain means —Salmond

3 When a number of person (whom we may style subjects) are supposed to be in the habit of paying obedience to a person or an assemblage of person of a known or certain description (whom we may call governed or governors) such person altogether (subjects and governors) are said to be in a state of political society —Bentham A fragment & Government

national Law' में राज्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "राज्य-उपनिवेशों तथा अधिराज्यों (Dominions) से भिन्न उस समय अस्तित्व प्राप्त करता है जब किसी राज्य में लोग उस राज्य की सर्वसत्ता सम्पन्न सरकार के तत्वावधान में संगठित होकर रहते है ।"[1]

प्रो० हालैंड ने दूसरी जगह राज्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "राज्य ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जो एक निश्चित प्रदेश में रहते हैं और जिन पर उस समुदाय के बहुमत की इच्छा या कुछ निश्चित वर्ग की इच्छा उस बहुमत की शक्ति से या उस वर्ग की शक्ति से लागू होती है और कोई भी सदस्य इसका विरोध नहीं कर सकता ।'[2] यह परिभाषा निस्सन्देह वर्तमान राज्य के रूप को व्यक्त करती है । इसमें जनसंख्या, प्रदेश, सरकार तथा प्रभुसत्ता चारों बातों पर प्रकाश डाला गया है ।

(8) गार्नर (Garner)—आधुनिक परिभाषाओं में गार्नर की परिभाषा अधिकाधिक सत्यता के निकट मानी जाती है । उन्होंने लिखा है कि "राज्य राजनीति शास्त्र तथा संवैधानिक विधि की धारणाओं के अनुसार न्यूनाधिक ऐसे व्यक्तियों का समुदाय है जो एक निश्चित भू-प्रदेश पर अधिकार किये रहते और बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहते हुए अपनी एक संगठित सरकार रखते हैं जिसकी जनता से अधिकतर लोग आज्ञा पालन करने के आदी होते है ।[3] यह परिभाषा

---

1 A state proper in contradistinction to colonies and dominions —is in existence when a people is settled in a country under its own sovereign government" —Oppenheim

2 A state is a numerous assemblage of human beings generally occupying a certain territory, among whom the will of the majority or of an ascertainable class of person is by the strength of such a majority or class made to prevail against any of their number who oppose it —Holland

3 ' The state, as a conception of political science and constitutional law is a community of person, more or less numerous, Permanently occupying a d finite por tionof territory independent of external control and possessing an organised government to which the great body of inhabitants render habitual obedience" —Garner

नि स देह सभी परिभाषाओ की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा सत्य है। इसमे राज्य के सभी तत्वों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है।

ग्रीन ने राज्य की परिभाषा देते हुए इस तथ्य पर जोर दिया है कि राज्य ही एक एसा समूह है जिसके कल्याण के लिए सगठित समाज जीवित रहता है, अर्थात् राज्य एक समुदाय है। दूसरे स्थान पर ग्रीन न राज्य का अर्थ समस्त सरकारी व्यवस्था से लगाया है। होयन (Hearn) भी राज्य का अर्थ सरकार से लगाते हैं। परन्तु वह यह नही बताते कि सरकार है क्या। उनकी सरकार का अर्थ मन्त्रिमण्डल, कार्यपालिका या समस्त सरकारी व्यवस्था हो सकती है। एडवर्ड जेंक्स भी सरकार को ही राज्य समझ बैठे हैं।

राजनीतिशास्त्र के कुछ लेखकों का यह विचार है कि राज्य एक सम्पूर्ण शरीर की भांति है। परन्तु प्रो बार्कर इस मत को खण्डित करते हुए कहते हैं कि राज्य शरीर नही, वरन् शरीर के समान है क्योंकि राज्य के विभिन्न भागों की अपनी अपनी स्वतन्त्र इच्छा होती है। जीवशास्त्रीय कार्यों मे शरीर के विषय मे ऐसी बात नही कही जा सकती क्योकि शरीर मे हाथ की इच्छा मुँह की इच्छा के विपरीत नही हो सकती। फिर भी अर्नेस्ट बार्कर कहते है कि राज्य को एक शरीर के समान मानने से यह समझने म आसानी होती है कि राज्य का कैसा स्वभाव है और इसका कैसे विकास हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य शब्द की विभिन्न विचारकों ने विभिन्न दृष्टिकोणो से परिभाषा दी है। परन्तु सभी परिभाषाओं के अध्ययन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राज्य कुछ व्यक्तियो का एक ऐसा सामूहिक सगठन है जिसकी अपनी सरकार होती है और जो बिना किसी सरकार के बाह्य नियन्त्रण के अधीन हुए निश्चित भू भाग पर स्थित रहता है। राज्य के प्रमुख तत्व होते हैं जिनमे से किसी एक का भी अभाव किसी समुदाय को राज्य की सज्ञा प्रदान करने से रोक सकता है।

राज्य के तत्व (Elements of State)

राज्य के तत्वो के विषय म विद्वानो मे मतभेद रहा है परन्तु निम्नलिखित चार तत्वों को राज्य का प्रमुख तत्व माना जा सकता है—

जनसख्या (Population)—प्रत्येक राज्य व्यक्तियो का सगठित समुदाय होता है। बिना व्यक्तियो के राज्य की सत्ता ही नही हो सकती। ओपेनहीम कहते हैं कि राज्य की जनसख्या मे नर एव नारी दोनो ही सम्मिलित होते है जो

कि यद्यपि विभिन्न जातियों, विचारधाराओं या रंगों के होते हैं फिर भी साथ-साथ एक समुदाय के रूप में रहते हैं किसी भी राज्य में तीन प्रकार के लोग हो सकते हैं—एक तो उस राज्य के नागरिक होते हैं, दूसरे उस राज्य के अधीन राज्यों की प्रजा होते हैं और तीसरे अन्य देशों के नागरिक होते हैं जो विदेशी कहलाते हैं। परन्तु राज्य की जनसंख्या से तात्पर्य केवल प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों से अर्थात् राज्य के नागरिकों से होता है।

प्रदेश (Territory)—राज्य का दूसरा तत्व वह प्रदेश होता है, जिसमें उस राज्य के नागरिक रहते हैं घूमते हुए व्यक्तियों के समूह को राज्य नहीं कहा जा सकता। यहूदी लोग Holiland की विजय के पूर्व चालीस वर्षों तक इधर उधर भटकते रहे। उस अवस्था में उस समुदाय को राज्य नहीं कहा जा सकता था इसी प्रकार मध्य एशिया की भी विभिन्न भ्रमणशील जातियों के समुदाय को राज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे किसी निश्चित भू भाग में नहीं रहती। राज्य के प्रदेश के लिए यह निश्चित नहीं कि वह बड़ा हो या छोटा। आदिकाल में यूनान में नगर राज्य थे जो वर्तमान नगरों से अधिक बड़े नहीं थे। डॉ सामण्ड राज्य के लिए प्रदेश का होना आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि राज्य के प्रदेश से तात्पर्य उस भू भाग से है जो कि किसी राज्य के अधिकार में हो। इस प्रदेश पर वह राज्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा लागू कर सकता है और किसी भी प्रकार के विदेशी हस्तक्षेप को रोक सकता है। राज्य के प्रदेश में भूमि तथा तीन मील तक विस्तृत समुद्र, खाड़िया, नदिया तथा भू-भाग के ऊपर का वायुमण्डल भी सम्मिलित है। इस प्रकार के प्रदेश को आजकल के सभ्य एवं सामान्य राज्य का लक्षण माना जाता है। सरकार के कार्यों का सुचारु रूप से संचालन हो, इसके लिए यह लक्षण आवश्यक होता है, परन्तु सामण्ड का यह भी कहना है कि यह लक्षण राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक नहीं। राज्य बिना निश्चित प्रदेश का भी पूर्ण राज्य हो सकता है, जैसे एक भ्रमणशील जाति को भी राज्य कहा जा सकता है। एक प्रदेशहीन समाज को भी सरकार के कुछ आवश्यक कार्यों को पूरा करने के लिए संगठित किया जा सकता है और इस प्रकार संगठित समुदाय को राज्य कहा जा सकता है। परन्तु ऐसी घटनाएँ बहुत कम होती हैं। इसी कारण हम राज्य के अस्तित्व के लिए प्रदेश आवश्यक समझते हैं[1] वर्तमान राज्य अपना प्रदेश,

1 We cannot say that it (territory) is essential to the existence of a state A s at without a fixed t rritory, a nomadic tribe for example is p rf ctly poss ble A non territorial society may b organis d for the fulfilment of the ess-ntial functions of government and if so it will be a true state

—Salmond Jurisprudence 10th Ed p 132

अधिकांशतया भौगोलिक एवं प्राकृतिक सीमाओं के अनुसार निर्धारित करते हैं। किसी राज्य का प्रदेश थोडा एक जगह और थोडा दूसरी जगह पर भी हो सकता है, जैसे पाकिस्तान के दो भिन्न भिन्न राज्य हैं।

सरकार (Government) राज्य मे सरकार का भी होना आवश्यक है। यह राज्य मे विधियो को लागू करती है और आवश्यकतानुसार उनका निर्माण भी करती हैं यह तत्व ही राज्य मे याथपूर्ण व्यवस्था स्थापित करता और राज्य को रहने योग्य बनाता है। सरकार मे ही राज्य की सर्वोत्तम शक्ति निहित होती है। सरकार के माध्यम से राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। सरकार ही राज्य के लोगो को सामूहिक काय करने के लिए सगठित करती है। सरकार से तात्पय राज्य के मन्त्रिमण्डल से नहीं होता। यह एक ऐसी सस्था है जो कि राज्य की आन्तरिक एव बाह्य शान्ति तथा सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होती है। इसके तीन अग होते हैं—विधायिका, यायपालिका तथा कायपालिका, परन्तु सकीर्ण अर्थों म सरकार का अथ केवल कायपालिका से होता है।

सरकार राज्य मे बहुत ही महत्वपूर्ण काय करती है। गेटल कहते हैं कि 'सरकार राज्य तथा व्यक्तियो के बीच एक कडी होती है यह एक साधन भी है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं, यह एक मशीन भी है जिसकी मदद से राज्य के उद्देश्यो को पूरा किया जाता है और सामान्य लाभ के विषयो को सचालित किया जाता है।" सरकार की रचना राज्य मे लागू होने वाले सविधान के अनुसार होती है। सविधान एक स्थायी एव निश्चित सस्था होती है। सविधान के परिवतन इसमे वर्णित नियमो के अनुसार ही होता है यह राज्य म प्रभुसत्ता का विभाजन बताता है। सविधानो के अनुसार ही राज्य के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। सघात्मक सविधान की सरकार सघीय होती है, एकात्मक सविधान की सरकार अध्यक्षीय।

प्रभुसत्ता (Sovereignty)—प्रभुसत्ता राज्य का जीवन होती है यदि राज्य के तीनो तत्व विद्यमान हो और उस समुदाय मे प्रभुसत्ता न हो तो वह समुदाय किसी भी दशा मे राज्य नहीं कहा जा सकता। यह प्रभुसत्ता ही राज्य के अस्तित्व को निर्धारित करती है। इसका तात्पय होना है कि राज्य बाह्य रूप म किसी भी अन्य देश या व्यक्ति के अधीन नही होता और न आन्तरिक रूप से ही अपने देश के प्रधान के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के अधीन होता है। यह राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता को प्रदर्शित करती है।

इस प्रकार राज्य के चार तत्व ज्ञात हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने राज्य के संविधान को तथा राज्य की आन्तरिक एकता को भी राज्य के तत्व माना है। परन्तु यदि किसी समुदाय में उपयुक्त चारों तत्व विद्यमान हैं तो वह समुदाय राज्य अवश्य होगा।

राज्य के कार्य एवं उसका महत्व
(Functions & importance of the State)

'राज्य का कार्य केवल पुलिस का कार्य सम्पन्न करना, अपराधियों को पकड़ना और समझौतों पर कठोरतापूर्वक अमल करवाना ही नहीं है, अपितु राज्य को यथा सम्भव व्यक्तियों के लिए, उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसे प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करना है।" —टी एच ग्रीन

राज्य के उद्देश्य—राज्य के उद्देश्य पर विचार किये बिना राज्य के औचित्य पर विचार किया जाना अधूरा ही रह जाता है। अधिकतर प्राचीन विचारक राज्य को मानव जीवन के उच्चतम उद्देश्य तथा साध्य के रूप में मानते थे। वे राज्य को एक ईश्वरीय रूप मानते थे, जिसकी प्राप्ति मानव जीवन का परम उद्देश्य था और किसी व्यक्तिगत हित की कल्पना उन्हें मान्य नहीं थी। यूनानी लोग राज्य का उद्देश्य आत्म निर्भरता मानते थे। प्लेटो और अरस्तू के द्वारा 'राज्य स्वयं साधन है'। इसी मत का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट जीवन राज्य में ही सम्भव है। जिस प्रकार शरीर के अंगों को शरीर से पृथक कर दिया जाय तो उनका अस्तित्व नहीं रहेगा, इसी प्रकार व्यक्तियों को राज्य से पृथक कर देने से उनका भी कोई अस्तित्व नहीं रहेगा।

प्लेटो के अनुसार राज्य का मुख्य उद्देश्य प्रजा को सभी प्रकार के सुखों से परिपूर्ण रखना था। अरस्तू ने राज्य का ध्येय जन साधारण का कल्याण करना माना है। इसके अनुसार—"राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की उच्चतम मानसिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है'। अरस्तू ने आगे कहा है कि 'राज्य की उत्पत्ति जीवन की कठोर आवश्यकताओं से हुई है और अच्छे जीवन के लिए इसका अस्तित्व चल रहा है'।

वेद व्यास ने राज्य को साध्य न मानकर साधन माना है। इनके अनुसार (महाभारत में) 'व्यक्ति राज्य में रहकर ही आत्मा प्राप्ति और अपने व्यक्तित्व को विकासशील बना सकता है, तथा राजधर्म के द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति कर सकता है'। कौटिल्य ने राज्य में शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिए दण्ड के महत्व को स्वीकार किया। इस प्रकार प्राचीन भारत में राज्य की महत्ता साध्य

के रूप में प्रतिष्ठित नही हुई और उसको प्रजा की सुख समृद्धि के लिए एक साधन के रूप म माना गया। अत भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य एक साधन है, साध्य नही। उसका एक मात्र उद्देश्य जनता का कल्याण करना है।

हॉब्स के अनुसार—व्यवस्था और सम्पत्ति का अधिकार कायम रखना राज्य का उद्देश्य था। नागरिक समाज कायम होने के पूर्व जो प्राकृतिक अवस्था थी उसके सम्बन्ध मे हाब्स का दृष्टिकोण निराशापूर्ण था कि राज्य न होने को की अपेक्षा किसी भी प्रकार का राज्य होना उन्हे अच्छा जान पडता था। उनके विचारो मे अराजकता की अपेक्षा निरंकुश अत्याचारी शासन उनके विचारो म अच्छा था।

इसी प्रकार लॉक के विचारो से राज्य का उद्देश्य एक निश्चित विधि और सामान्य न्यायाधीश की सहायता से जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा करना है।

रूसो के अनुसार—राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन को सुन्दर बनाने के लिए है। उसका विश्वास था कि राज्य केवल उपयोगी उद्देश्यो की प्राप्ति को सुविधाजनक बनाने का साधन मात्र नही है, बल्कि वह मनुष्य के अच्छे से अच्छे रूप की अच्छी से अच्छी अभिव्यक्ति है।

आदम स्मिथ के अनुसार—राज्य के महान प्रयोजन होते हैं स्वतन्त्र समाजों के आक्रमणो से समाज की सुरक्षा सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण। इस प्रकार स्मिथ के मतानुसार राज्य का कार्य रक्षात्मक, न्यायात्मक और सार्वजनिक होता है।

ब्लुशली के अनुसार—राज्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति का विकास करना तथा राष्ट्रीय जीवन को पूर्णता प्राप्त करना और उसका परोक्ष उद्देश्य, व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव सुरक्षा बनाये रखना होता है"।

जर्मन लेखक होल्टन डाफ (Holtsondarf)—ने राज्य के मुख्य प्रयोजन इस प्रकार बताये है—राष्ट्रीय शक्ति का विकास व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा और मनुष्यो की सामूहिक उन्नति ही राज्य के मूल उद्देश्य है।

आधुनिक विद्वान बर्गेस ने राज्य के उद्देश्य इस प्रकार बतलाए हैं—'राज्य के प्रारम्भिक उद्देश्य शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय की परिस्थितिया उत्पन्न करना है। राष्ट्रीयता का सुचारू रूप से विकास एव राष्ट्रीय प्रतिभा और शक्ति की वृद्धि है, एव सम्पूर्ण मानव जीवन को सभ्यता का विकास आदि। विलोबी और

गानर ने भी राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे बर्गेस के ही दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया है, गानर के मत नुसार—' प्रा तरिक व्यवस्था एव सुरक्षा, सावजनिक कल्याण तथा मानव सभ्यता का विकास राज्य के उद्देश्य होते हैं। इस प्रकार वह राज्य क राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही पहलुओ पर विशेष ध्यान देता है। इस प्रकार प्र धुनिक शासन में भी राज्य का उद्देश्य लोक हित या लोक कल्याण कहा जा सकता है।

राज्य के काय एव उसका महत्व (Functions & importance of the State)—मामण्ड क अनुसार राज्य के प्रमुख दो काय होते हैं—बाह्य आक्रमण स सुरक्षा एव न्याय प्रशासन। राज्य को अपने उद्देश्यो की पूर्ति क लिए दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—अनिवाय एव ऐच्छिक काय।

अनिवार्य काय (1) आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणो से रक्षा—राज्य जब तक विदेशी आक्रमणो से अपनी भूमि और सम्मान की रक्षा की क्षमता नही रखता और आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित रखते हुए व्यक्तियो का जीवन की सुरक्षा का आश्वासन नही देता, उस समय तक वह राज्य सेना और पुलिस रखता है सरकारी कमचारियो तथा न्याय की व्यवस्था करता है और इन कार्यों से सम्बन्धित व्यय को पूरा करन के लिए नागरिको पर कर लगाता है।

(ii) व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था— व्यक्तियो को पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करना राज्य का अनिवाय काय कहा जा सकता है। इसके लिए राज्य कानूनो का निर्माण करता है एव पुलिस और न्यायालयो की सहायता से उक्त काय रूप मे परिणित करता है।

(2) राज्य के ऐच्छिक काय—जो काय राज्य के अस्तित्व के लिए तो आवश्यक नही होते, किन्तु जनता के बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक कल्याण के लिए जिनको करना आवश्यक सा होता है।

(i) सावजनिक शिक्षा—आधुनिक युग मे सावजनिक शिक्षा का प्रबन्ध करना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य समझा जाता है। उससे यह आशा की जाती है कि वह एक निश्चित स्तर तक अनिवाय और नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे। राज्य को केवल सामान्य शिक्षा का ही प्रबन्ध नही करना चाहिए बल्कि व्यवसायिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा की भी उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ii) सावजनिक स्वास्थ्य—जनता को रोगो से रक्षा, सक्रामक रोगो की रोग थाम हेतु नि शुल्क चिकित्सा एव औषधियो और महामारी से बचने के लिए

टीके आदि का प्रबन्ध राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। अतः राज्य को स्वास्थ्य की रक्षा ही नहीं बल्कि स्वास्थ्य वर्द्धक साधनों का भी उचित प्रबन्ध करना चाहिए।

(iii) **उत्पादनमें वृद्धि**—जनता तथा राज्य का विकास उत्पादन की क्षमता पर ही आधारित होता है। जनसंख्या के दिन प्रतिदिन बढ़ते जाने से प्रत्येक राज्य के लिए कृषि और उद्योग धन्धों का विकास आवश्यक हो गया है।

(iv) **आर्थिक विषमताओं का अन्त**—पूंजीवाद की व्यवस्था ने समाज को दो भागों में विभक्त कर दिया है। एक तरफ व्यक्ति श्रमिकों का शोषण करके विलासिता पूर्वक जीवन व्यतीत करता है तथा दूसरी ओर जनता को पेट भर भोजन भी नहीं मिल पाता। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी आर्थिक विषमता को समाप्त करके एक ऐसे समाज की रचना करे जिससे प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर प्राप्त हो सके।

(v) **सामाजिक कल्याण**—सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिए सामाजिक कुरीतियों को दूर करना राज्य का ही कर्त्तव्य है। जो व्यक्ति योग्य हैं उन्हें उनकी योग्यतानुसार राज्य की ओर से काम मिलने चाहिए। इसके अतिरिक्त दलित जातियों का उत्थान और सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए राज्य को अनेक कार्य करने पड़ते हैं।

अतः सभ्यता के विकास के साथ ही राज्य के उत्तरदायित्व भी बढ़ते जाते हैं। राज्य ही वह संस्था है जो नागरिकों के उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित अवसर प्रदान कर सकता है। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में डेविस ने लिखा है कि "आधुनिक राज्य कोयला बेचने वाला, मकान मालिक, रोटी बनाने वाला तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं की उचित व्यवस्था किया करता है।"

राज्य के कार्य के बारे में विभिन्न विचारधाराएं—राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं है। कुछ विचारकों के अनुसार व्यक्ति राज्य के लिए है अर्थात् राज्य स्वयं ही साध्य है। परन्तु इसके विपरित मत यह है कि राज्य एक साधन मात्र है। जो विद्वान राज्य को साध्य मानते हैं, उनके अनुसार व्यक्ति की उन्नति और विकास राज्य में ही हो सकता है। इसी विचारधारा के विद्वान राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं। उसके अनुसार मनुष्यों के कार्यों पर राज्य का कम से कम हस्तक्षेप हो उतना ही अच्छा है।

(i) **व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Individualistic Theory)**—इस

सि.ा त के समर्थकों के अनुसार व्यक्ति का विकास तभी हो सकता है जब कि राज्य व्यक्ति के कार्यों म कम स कम हस्तक्षेप करे । व्यक्ति को अपने विकास के लिए अधिक स्वत त्रता मिलनी चाहिए । राज्य को केवल व्यक्तियों के जीवन व सम्पत्ति की रक्षा करना और अपराधियों को दण्ड देना चाहिए । जिससे नागरिकों की स्वत त्रता खतर म न पडे । उग्र व्यक्तिवादी स्पेंसर र ज्य के काम क्षेत्र मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना, सम्पत्ति की रक्षा आदि । मिल स राज्य के दो और कार्य सम्मिलित किये हैं—असहाय और असमय व्यक्ति की रक्षा तथा सक्रा क रोगों की रोकथाम आदि ।

राज्य क कार्यों के सम्बन्ध म व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए फ्रीमैन न कहा है– "वही सरकार सबस अच्छी है जो कम स कम शासन करती है और व्यक्ति को व काय करने देती है जो व करना चाहते हैं" ।

हम्बोल्ट के अनुसार—"राज्य को नागरिको की उन्नति से अलग रहना चाहिए और उन कार्यों के अतिरिक्त अ य कोई काय नही करना चाहिए जो नागरिको की सुरक्षा और विदेशी शत्रु स रक्षा करन के लिए आवश्यक है" ।

अराजकतावादी विचारधारा के अनुसार राज्य के काय–अराजकतावादी विचारको के अनुसार राज्य का काय केवल यह रह गया है कि वह अपने मृत्यु के आदेश-पत्र पर हस्ताक्षर करक अदृश्य हो जाय । राज्य शोषण अन्याय और अत्याचार को ज म देकर मनुष्य को अनैतिक बनाता है, राज्य भ्रष्टाचार को जन्म देता है । उनके अनुसार देश की सुरक्षा, आतरिक व्यवस्था और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण आदि काय राज्य की अपेक्षा स्वतन्त्र संघ अधिक सफलता के साथ कर सकते हैं । राज्य समाज में दूषित वातावरण पैदा करता है । न्याय और दण्ड की आवश्यकता इसलिए होती है कि राज्य सामाजिक औ आर्थिक असमानताओं को दूर नही कर सकता । राज्य पूजीवाद को सरक्षण देता है इसलिए राज्य बुरा है । अत राज्य का स्थान सामाजिक संस्थाओं को लेना चाहिए ।

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य के काय–राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे व्यक्तिवादी विचारधारा के विपरीत समाजवादी सिद्धान्त है । समाजवाद एक नवीन समाज की स्थापना करना चाहता है जिसम व्यक्तियो के लिए स्वतन्त्रता हो, समानता हो, न्याय हो तथा सबको व्यक्तित्व के विकास के उचित अवसर प्राप्त हो । समाजवादी इस प्रकार आर्थिक विषमता का विरोध करता है तथा एक ऐसे समाज की कल्पना करता है, जिसम धन के आधार पर सम ज मे भेदभाव नहीं हो । समाजवाद के अनुसार राज्य को केवल अत्य त आवश्यक काय ही नही करने

चाहिए, बल्कि आर्थिक पहलुओं का भी संचालन करना चाहिए। अतः समाजवादी व्यवस्था ही मनुष्यों को प्रेरित करती है कि वे समाज के हितों को दृष्टि में रखकर कार्य करें। अतः समाजवाद ही आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न करता है।

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य—आधुनिक युग में किसी भी राज्य की महानता की परीक्षा उसकी शक्ति से न आंकी जाकर सामाजिक हितों की ओर ध्यान देने से की जाती है। आज के युग में लोक कल्याणकारी राज्य को ही उचित माना जाता है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य को जनता और समाज की भलाई के लिए वे सब कार्य करने चाहिए जिनसे जनता की उन्नति और समाज का विकास हो सके। इस सिद्धान्त में आदर्श बातों को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्य मनुष्यों के सर्वांगीण हित का संवर्धन होता है। राज्य आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के अतिरिक्त नैतिक, बौद्धिक और राजनैतिक व्यवस्था पर भी पूर्ण ध्यान रखता है।

राज्य के कार्य क्षेत्र के संबंध में गांधीवादी विचारधारा—राज्य के कार्य क्षेत्र के संबंध में गांधीवादी विचारधारा भी अपने में एक ही है। उनका समस्त दर्शन चिंतन, सत्य और अहिंसा के आधार स्तम्भों पर खड़ा है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तभी हो सकता है जबकि सत्ता का विकेन्द्रीयकरण हो। अतः यह समाजवादी विचारधारा के निकट सिद्धान्त रहा है।

राज्य की उपयोगिता (Importance of the State)—राज्य की उपयोगिता के बारे में भी मतभेद है। व्यक्तिवादी विचारक राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं। उनके अनुसार राज्य तभी उन्नति कर सकता है, जब राज्य उसके कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करे। समाजवादी विचारकों के अनुसार राज्य बिना किसी पक्षपात के न्यायपूर्ण ढंग से जनता का हित करना है। इसलिए उनका विश्वास है कि राज्य का कार्य क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होगा, जनता का उतना ही अधिक कल्याण होगा।

अराजकतावादी भी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं और कहते हैं कि राज्य शक्ति का प्रयोग नागरिकों की स्वतन्त्रता का दमन करता है। यह सत्य है कि राज्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का दमन करके उनकी रक्षा करता है।

अरस्तु के अनुसार—'राज्य का जन्म आवश्यकताओं के कारण हुआ और यह उत्तम जीवन के निर्माण के लिए सदैव स्थिर रहेगा। राज्य मनुष्य जीवन की रक्षा के साथ साथ प्रगतिशील समाज के निर्माण के लिए सम्पूर्ण अवसर प्रदान करना

है। अत मानव जीवन के लिए राज्य उतना ही आवश्यक है जितना कि शरीर के लिए अन्न, समाज में रह कर व्यक्ति सामाजिकता को प्राप्त करता है और उसकी रक्षा राज्य द्वारा की जाती है।

राज्य शांति और व्यवस्था बनाये रखता है। आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य कानून पुलिस और न्याय स्थापित करता है एवं बाह्य आक्रमणों से रक्षा करके प्रगतिशील जीवन का निर्माण करता है। राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा सम्भव होती है। देश की आर्थिक उन्नति में राज्य सहायक होता है। राज्य स्वतन्त्रता का हनन न करके उसकी रक्षा करता है। अत राज्य के अभाव में व्यक्ति न तो उन्नति कर सकता है और न समाज ही।

राज्य की उत्पत्ति (Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति को ज्ञात करना बहुत ही कठिन कार्य है। राज्य की उत्पत्ति के विषय में न तो कोई प्रामाणिक या असंदिग्ध साक्ष्य ही मिलते हैं और न कोई संकेतात्मक विवरण। इसके विषय में केवलमात्र कल्पना का सहारा लिया जा सकता है जो कि तर्क के आधार पर सत्य को खोजने का दम भर सकती है। राजनीति-शास्त्र के विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित पांच सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है—

(1) शक्ति-सिद्धान्त (The Force Theory)
(2) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Divine Theory)
(3) प्राकृतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Natural Theory)
(4) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (The Social Contract Theory)
(5) विकासवादी सिद्धान्त (The Evolutionary Theory)

ये विभिन्न सिद्धान्त समय समय पर प्रकाश में आते गए और समयानुकूल समाज में इन्हें स्वीकृति भी मिली। इन सिद्धान्तों को एक-दूसरे का पूरक कहा जा सकता है।

शक्ति सिद्धान्त (The Force Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में शक्तिशाली व्यक्तियों ने निबलों को दबाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार एक शक्तिशाली व्यक्ति की अधीनता में सैकडों निबल व्यक्ति रहने लगे, जिससे आधुनिक राज्य की नींव पड़ी। 'Trietschke'

सदृश विद्वानो ने राज्य तथा शक्ति को एक ही रूप माना है। इनका कहना है कि शक्तिशाली व्यक्ति का प्रत्येक कार्य उचित होता है (Might is right) और राज्य मे प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान की इच्छा ही शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार सर्वोपरि एव औचित्यपूर्ण होती है। इनका कहना है कि राज्य अधिकांशतया अन्याय ही करता रहता है। इस अन्याय को दबाने के लिये ही इन्होने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे वृद्धि करने की माग की और राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनातिन्यून व्यवहार मे लाये जाने की याचना की। मध्यकाल मे धर्म शास्त्रो ने भी इसी बात पर जोर दिया कि राज्य को दैवी शक्ति के क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। इस प्रकार इन्होने राज्य की शक्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया। व्यक्तिवादी एव अराजकतावादी विचारक भी इसी सिद्धान्त के आधार पर कहते हैं कि राज्य एक अभिशाप है। समाजवादी तो यहा तक कहने से नही चूकते कि मजदूरो का पूजीपतियो द्वारा शोषण एव आक्रमणकारी प्रवृत्तिया ही राज्य को जन्म देती हैं। ये लोग इस प्रकार राज्य पर प्रत्यक्ष रूप से आघात नही करते वरन् परोक्ष रूप से राज्य को बुरा ही बताते हैं।

आलोचना—यह सिद्धान्त की उत्पत्ति के विषय मे 'शक्ति' पर अनुचित रूप से जोर देता है। इस त्रुटि के द्वारा ही यह राज्य को अन्य मानवीय सस्थाओ से भिन्न बताता है। इस सिद्धान्त के मानने वालो का कहना है कि हर राज्य अपने नागरिको से अपने आदेश मनवाने के लिये पूर्णतया सक्षम है, जबकि अन्य मानवीय सस्थाएं ऐसा नहीं कर सकती। यह सत्य है कि शक्ति एव सामर्थ्य (Power) राज्य के दो भिन्न भिन्न गुण है और इन्होने ही राज्य की उत्पत्ति को सम्भव बनाया है, परन्तु फिर भी इन गुणो पर अनुचित रूप से जोर नहीं दिया जाना चाहिये।

"This theory has been criticised as laying too much emphasis on force It is true that force and power are *two distinct characteristics of a state and it is for these* reasons the state came into existence But we cannot place undue emphasis on foic "

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Divine Origin Theory)

इस सिद्धान्त के मानने वालो का कहना है कि राज्य की रचना ईश्वर ने की है, इस कारण राज्य की सरकार भी धार्मिक महत्ता की होनी चाहिये। यह विचार बहुत ही पुराना है और बहुत ही दिनो तक समाज मे माना भी जाता रहा

है। एशियाई शासको ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने नागरिको पर नियत्रण करने का प्रयत्न किया। मध्यकाल मे इसी सिद्धा त के कारण चच तथा राज्य के बीच विवाद उठ खडा हुआ। चच के पुजारियो ने कहा कि राज्य दैवी शक्ति से बना है, अतएव दैवी शक्ति के उपासको को, अर्थात् चच के पुजारियो को राज्य पर शासन करने का अधिकार प्राप्त है। परन्तु राजाओ ने कहा कि हमे ईश्वर ने राज्य पर शासन करने के लिये शक्ति प्रदान की है और इस कारण चच को राजनीतिक विषयो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही। चच केवलमात्र धार्मिक विषयो म ही अपनी सत्ता को प्रदर्शित कर सकता है। राजा को अपनी इच्छानुस र प्रत्येक काय करने का अधिकार है। यह आवश्यक नहीं कि राजा के काय से चच के अधिकारी प्रसन्न ही हो। प्रोटेस्टेण्ट धार्मिक सुधार काल म दवी उत्पत्ति क सिद्धान्त को बल प्राप्त हुआ और यह कहा गया कि राज्य के साथ सारा नागरिक शक्ति सम्बद्ध है। इन लोगो ने कहा कि ईश्वर ने राज्य के शासक मे ही राज्य से सम्बन्धित सारे अधिकार निहित कर दिए हैं और इस कारण राज्य के प्रत्येक नागरिक को चाहिये कि वह ऐसे राजा की आज्ञा का उल्लघन न करे। 16 वी तथा 17 वीं शताब्दी मे इस सघप ने नया रूप धारण किया। अब राज्य तथा चच के बीच में सघप नहीं रहा, वरन् राज्य तथा जनता के बीच सघप उठ खडा हुआ। राजाओ ने यह कहकर कि मुझे सारे अधिकार ईश्वर से प्राप्त हुए हैं अपनी जनता की बातो को ठुकराना शुरू कर दिया। जनता ने तब चर्चों की शरण लेना शुरू किया। अब प्रश्न यह उठा कि दवी शक्ति का राज्य में कौन व्यक्ति उपयोग कर सकता है। राज्यवादियो ने कहा कि यह शक्ति ईश्वर द्वारा राजा को ही मिली है और उसे ही इसका पूर्ण उपयोग करने का अधिकार है। उन्होंने यह भी कहा कि राजा की आज्ञा का उल्लघन करना ईश्वर के प्रति पाप करने के सम न है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो आन्दोलन चले उनसे जनता म एकत्व की भावना ही नही फली वरन् आत्म शासन के विचार का भी प्रादुर्भाव हुआ जिसक परिणाम स्वरूप प्रजात न्त्रात्मक राज्य की नींव पडी।

आलोचना यह सिद्धान्त व्यथ मे ही चच के अधिकारियो एव प्रशासकों के बीच भेद भाव पैदा करता है। परन्तु इस सिद्धान्त से यह लाभ भी है कि राज्य अपने को ईश्वर का दूत मानकर एक अच्छा प्रशासक बनाने का प्रयत्न करेगा, जिसके परिणामस्वरूप शासन म सुधार और जन-कल्याण होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर आदिकाल में राजनीतिक एकता तथा सुशासन स्थापित करने में बड़ी मदद मिली है। इसम हानियां तो कुछ बहुत अवश्य रही हैं जसे राजनीतिक प्रधानों

ने स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करके जनता का शोषण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु लाभ भी कम नहीं रहे।

यह सिद्धा त भले ही तर्क की कसौटी पर खरा न उतरे पर इसमे सन्देह नही कि यह सिद्धान्त प्राचीनतम सिद्धा त है क्योकि इसी के अनुरूप या इससे मिलती हुई बात मनु ने कही थी कि राजा चू कि इ द्र आदि सब देवों के नित्य अश से रचा गया है इस कारण यह तेज से सब जीवो को अभिभूत करता है या पराजित करता है।

प्राकृतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Natural Theory)

यह सिद्धा त अरस्तु ने प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से पृथक कदाचित नही रह सकता। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के आधार पर समाज की रचना हुई है। इस सिद्धा त की सत्यता की पुष्टि राज्य के स्वभाव से हो सकती है। राज्य भी सामाजिकता की धारणा पर भी अवलम्बित है। इस सिद्धा त मे अब कुछ सुधार कर लिया गया है। सुधारे गए विचारो के अनुसार राज्य की रचना मनुष्य की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए हुई है और इसीलिए व्यक्ति राज्य मे रहते है। इस अवधारणा के अनुसार राज्य का उद्देश्य न्याय की स्थापना करना एव सावजनिक कल्याण करना है।

आलोचना—यह सिद्धान्त केवल यही बताता है कि व्यक्ति की सामाजिकता की भावना के कारण राज्य की रचना हुई। परन्तु यह सिद्धा त यह नही बताता कि राज्य की रचना किन प्रभावो के कारण एव किस प्रकार हुई। फिर भी इस सिद्धान्त मे इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि एक कृत्रिम रचना नही है, वरन् यह व्यक्तियो के स्वभाव एव उनकी आवश्य ताओ के कारण स्वत ही विकसित हुआ है।[1]

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (The Social Contract Theory)

इस सिद्धा त के प्रमुख रूप स तीन प्रतिपादक हुए हैं—हॉब्स, लाक और रूसो। इन तीनो के विचार निम्नलिखित हैं—

(1) हॉब्स (Hobbes, 1586 1679)—इनके ऊपर तत्कालीन इंग्लैंड की संघर्षमय परिस्थिति का बडा गहरा प्रभाव पडा। इन्होंने तत्कालीन स्टुअर्ट वंशीय

---

1 This theory explains that the creation of the state is due to the sense of sociability in individuals But it does not explain the reasons and the factors responsible for the creation of the state

निरकुश शासको के अधिकार को दृढ करने के लिए उपयुक्त सिद्धात का अपनी पुस्तक "Leviathan" मे प्रतिपादन किया। इनके विचार से राज्य की रचना के पहले प्रकृतिक अवस्था थी। इस अवस्था मे लोग सामाजिक बधनो से तो अवश्य बधे थे, परन्तु उनके ऊपर कोई राजनीतिक सस्था न थी। इस समय मनुष्य का जीवन एकाकी, निधन, कठोर, दयनीय एव लघु था, क्योकि न तो कारखाने थे, न कला थी न शिक्षा थी न समाज था और न ही किसी बडी सत्ता का भय। यदि उन्हे कोई भय था तो वह यही कि उनकी किसी समय कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति निदयतापूवक हत्या कर सकता था। ऐसे समाज मे निरतर सघष चलता था। इस सघषमय अवस्था को दूर करने के लिए लोगो ने मिलकर एक समझौता किया कि वे अपने अस्तित्व को किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह को सौंप देंगे जो उनकी ओर से उन्हीं पर नियत्रण रखेगा इसी समझौते के परिणाम स्वरूप राजनीतिक समाज की रचना हुई और यह समाज ही राज्य मे परिणत हो गया। यही प्रमुख व्यक्ति उस राज्य का सत्ताधारी राजा बन गया इस राजा का चुनाव किया गया और चुनाव के पश्चात् सारे अधिकार इसी को दे दिये गए अर्थात् राजा को जनता ने बनाया अवश्य परन्तु बाद मे राजा को सारे अधिकार देकर जनता सदा के लिए अधिकारहीन हो गई। यह सामाजिक समझौता उस राजा पर नही लागू होता क्योकि यह समझौता समाज मे रहने वाले लोगो के बीच हो हुआ था, राजा और समाज के बीच नहीं। राजा तो उनके समझौते का परिणाममात्र था, उसके अधिकार इस समझौते के अनुसार सीमित न थे। उसके अधिकार स्वय उसमे ही उत्पन्न हुए। उसकी इच्छा ही विधि कही गई और जनता को उसकी इच्छा का विरोध करने का अधिकार नही रहा। यह समझौता स्थायी रूप से हुआ, और राज्य को यह अधिकार नही रहा कि इस समझौते को तोड सके या राजा को पदच्युत कर सके। इस प्रकार का राज्य हॉब्स के विचार से केवलमात्र राजतत्र (Monarchy) ही हो सकता है, जहा राजा को राज्य मे शाति स्थापित करने तथा व्यवस्था बनाए रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।

(2) जान लॉक (John Locke)—यह पूर्णवाद (Absolutism) के विरोधी थे और 1688 के इगलैंड के आन्दोलन के सिद्धान्तो का समर्थन करते थे। इनके समय मे जेम्स द्वितीय को शासन च्युत करके विलियम तृतीय को सम्राट बनाया गया था। जेम्स द्वितीय फ्रान्स भाग गया और इगलैंड की ससद के समर्थन से विलियम तृतीय को सारे अधिकार प्राप्त हो गए। इस समय के ग्लोरियस रिवल्यूशन के परिणाम स्वरूप ससद को अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हो गए और राजा को उसकी परामर्श से ही कार्य करने का अधिकार रहा। ऐसे ही समय मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रतिपादित करने के विचार से लॉक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादित किया।

इनके विचार से मनुष्य प्रारम्भ में प्राकृतिक अवस्था में रहता था। इनकी प्राकृतिक अवस्था हाब्स की प्राकृतिक अवस्था के विपरीत बहुत ही शांतिपूर्ण थी और सभी लोग सद्बुद्धि के अनुसार साथ-साथ रहते थे। उस समय उनके बीच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो सत्ता-सम्पन्न हो और उनके पारस्परिक विवादों को निपटा सके। ये प्रारम्भिक व्यक्ति बहुत ही चरित्रवान् एवं सद्बुद्धि वाले थे। ये अपने सारे काम प्राकृतिक नियम के अनुसार ही करते थे। इन व्यक्तियों के सम्मुख प्रकृति की कुछ असह्य अवस्थाएं अवश्य आईं परन्तु उनके लिए इन्होंने किसी प्रकार का संगठन तैयार करने की आवश्यकता नहीं समझी। बाद में कुछ नई नई आवश्यकताओं का आभास हुआ और इसके लिए इन्होंने एक सामाजिक संगठन बनाना चाहा। अब इनके सामने एक ऐसी विधि की आवश्यकता थी जो इनके पारस्परिक विवादों को निपटा सके। परन्तु सर्वोपरि आवश्यकता एक ऐसी शक्ति की थी जो ऐसे न्यायाधीश द्वारा घोषित दण्ड को दे सके। इस प्रकार इन्होंने इन आवश्यकताओं से प्रेरित होकर एक समझौता किया और एक सत्ता सम्पन्न प्रधान के अन्तर्गत एक सभ्य समाज की स्थापना की। इसके अतिरिक्त समुदाय तथा एक व्यक्ति विशेष के बीच भी एक समझौता हुआ जिसके परिणाम स्वरूप उस व्यक्ति को राजा के अधिकार प्रदान किए गए। लॉक के अनुसार ऐसा प्रधान अपने समझौते को मानने के लिए बाध्य है और यदि वह उस आदि समझौते के विरुद्ध काम करता है तो जनता को अधिकार है कि वह उसका विरोध करे और आवश्यकतानुसार उसे पदच्युत भी कर दे। लॉक (Locke) के इस विचार से प्रजातन्त्र एवं राजतन्त्र दोनों प्रकार के शासनों का मेल है तथा जनता को यह अधिकार दिया गया है कि वह निरकुश तन्त्र का विरोध कर सकती है।

"Participation in government is an essential personal right according to our modern democratic theory It was Locke's merit to stress that the ruler was under a trust to regard the welfare of his subjects It is not enough, however, to emphasize that the state exists for the benefit of men and not men for the glory of state A doctrine of the philosopher kind may easily lead to despotism however benevolent it may be The dignity of the human personality demands that the individual takes part in the selection of fundamen[tal] policies which are to guide the welfare of the St[ate]

(3) रूसो (Rousseau, 1712-1778)—रूसो एक फ्रांसीसी विचारक थे। इनके विचारों ने फ्रांसीसी विद्रोह को बहुत कुछ प्रभावित किया था। इन्होंने लिखा है कि शुरू में बड़ी प्रसन्नता थी, परन्तु इस आनन्दमय समाज में कुछ कठिनाइयाँ भी थीं जो व्यक्ति के जीवनकाल को बहुत कम कर सकती थीं। इन कठिनाइयों के निवारण का उन लोगों ने निश्चय किया और परिणाम स्वरूप उन्होंने पारस्परिक समझौते से राज्य की स्थापना की जिसका प्रधान राजा बनाया गया। इस प्रकार राज्य की रचना में प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई परन्तु उसे इसके स्थान पर नागरिक अधिकार प्राप्त हुए। इन अधिकारों के कारण राजा अपनी स्वेच्छाचारी भावनाओं को नहीं लागू कर सकता था। लोगों ने अपने इन सामाजिक अधिकारों को समझौते द्वारा समुदाय को दे दिया। उन्होंने अपने अधिकारों को राजा को कदाचित् समर्पित नहीं किया। इस प्रकार रूसो के अनुसार प्रभुसत्ता समुदाय में वास करती है। इस समुदाय ने ही सरकार की रचना की और इसीलिये यह अधिकार प्राप्त है कि जब चाहे सरकार को पदच्युत कर दे।

आलोचना—इस सिद्धान्त के विभिन्न विचारकों के विचारों एवं उनकी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इन लोगों के विचार किसी विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्य को पूरा करने के लिये ही व्यक्त किए गये थे। ये विचार अधिकांशतया काल्पनिक आधार पर अवलम्बित हैं क्योंकि इन विचारकों ने आदि मानव में आधुनिक प्रकार की राजनीतिक चेतना के सद्भाव की कल्पना की है जो असम्भव ही नहीं, पूर्णतया त्रुटिपूर्ण धारणा है। ऑस्टिन ने इसी कारण इन विचारों को ऐतिहासिक रूप से मिथ्या माना है। उनका कहना है कि हमें राजनीतिक समाज की रचना के पहले होने वाले किसी भी समझौते के प्रमाण नहीं मिलते। अतएव यह समझौता पूर्णतया भ्रामक है। ऑस्टिन ने आगे कहा है कि इस सिद्धान्त के प्रचारकों ने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि समझौते के अनुसार जनता तथा राजा के बीच किस प्रकार की शर्तें निर्धारित हुईं। यह कहना कि राजा तथा प्रजा के बीच एक समझौता हुआ, इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि राजा ने प्रजा को यह वचन दे दिया कि वह प्रजा की इच्छा के विपरीत कभी भी कोई काम नहीं करेगा।

मेन (Maine) ने भी इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस सिद्धान्त के विचारकों ने व्यक्ति को समाज की इकाई माना है, परिवार को नहीं। पर इतिहास इस बात का साक्षी देता है कि प्रारम्भिक समाज की इकाई (unit) परिवार था न कि व्यक्ति। परिवार के सदस्यों के बीच किसी संविदा

के अनुसार निर्धारित नही होते थे बल्कि जीवन मे उनके व्यक्तिगत स्तर के अनुसार उनका स्थान निर्धारित होता था । इसी को उन्होने status to contract कहा था ।

'One of Maine s most famous epigram is that the movement of the progressive societies has hitherto been a movement from states to contract,"

गार्नर ने इस सिद्धान्त को तर्कहीन बताकर खण्डित किया है । फिर भी उनका कहना है कि इस सिद्धान्त म यह सत्यता है कि प्रायमिक अवस्था मे व्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता पर कुछ नियन्त्रण किया गया । जेथो ग्रासन का भी कहना है कि इस सिद्धान्त से सत्यता यह है कि यह सिद्धान्त राज्य को स्वत विकसित होने वाली संस्था नही बताता । यह सिद्धान्त मनुष्यो के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप विकसित होने वाली भावना को व्यक्त करता है ।

विकासवादी सिद्धान्त (The Evolutionary Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी एक कारण से नही, वरन् विभिन्न कारणो के सम्मिश्रण से हुई है । उनमे से प्रमुखतम कारण निम्न हैं–

(1) सामाजिकता की भावना (Social consideration)
(2) रुधिर-सम्बन्ध (Blood relation)
(3) यौन सम्बन्ध (Sex relation)
(4) धर्म (Religion)
(5) युद्ध (War)
(6) उद्योग व धंधे (Industry and Commerce)

मानव शास्त्रियो का मत है कि प्रारम्भ मे मातृसत्तात्मक परिवार थे । इन परिवारो में माता प्रधान होती थी और उसी का परिवार पर नियन्त्रण रहता था सारे बच्चे अपनी मा के ही परिवार के सदस्य होते थे । परन्तु बाद मे यौन सम्बन्धो मे परिवतन आता गया और एक व्यक्ति कई कई पत्नियो से विवाह करने लगा । इसके परिणामस्वरूप पितृसत्तात्मक परिवारो का जन्म हुआ । मेन का विचार है कि व्यक्ति मे यौन सम्बन्धो के विषय मे बडी स्पर्द्धा की भावना होती है इसी भावना के आधार पर पितृ-सत्तात्मक परिवारो की स्थापना हुई है । इन परिवारों मे पिता ही प्रधान माना जाता था । वह ही परिवार की सारी सम्पति का स्वामी होता था और परिवार मे रहने वाले नर–नारी उसके दास की भांति होते

थे। उसकी इच्छा ही सर्वोपरि मानी जाती थी। इस प्रकार के बहुत से परिवार, जो एक ही व्यक्ति से सम्बंधित थे, कालान्तर मे आपस मे संगठित हो गए और उनसे गोत्र (Clan) की रचना हुई। इन गोत्रो मे वयोवृद्ध को ही मुखिया माना जाता था। गोत्र का प्रमुखतम कार्य अपने मृत पूर्वजो की उपासना करना था। इन्ही गोत्रो का विकसित रूप कबीला (Tribe) कहलाने लगा। कबीले का कर्त्तव्य अपने सदस्यो के हितो की रक्षा करना एव उनके विवादो को सुलझाना था। ये कबीले अपने सदस्यो को आक्रमणो से बचाते थे एव आवश्यकतानुकूल अन्य कबीलो पर आक्रमण भी करते थे। परन्तु इन कबीलो के रूपों मे कुछ कारणो से बहुत परिवर्तन होता गया। लोगो ने पशु-पालन के स्थान पर खेती करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार वे उपजाऊ प्रदेश पर सामूहिक रूप से बसने लगे। सख्या मे इस प्रकार वृद्धि हुई और कबीले के रुधिरगत सम्बन्ध शिथिल होने लगे। एक कबीले के व्यक्ति दूसरे कबीलो वालो से मिलने लगे और एक-दूसरे पर अपना अधिकार भी जमाने का प्रयत्न करने लगे। परिणामस्वरूप छोटे कबीले बड़े होते चले गये और बाद मे ये ही राजनीतिक रूप मे सगठित होकर राज्य कहलाने लगे।

राज्य की रचना मे धर्म का भी बहुत हाथ रहा है क्योकि एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्ति साथ साथ रहने का प्रयत्न करते हैं जिसके कारण लोगो मे सामूहिकता की भावना का विकास होता है। धर्म के क्षेत्र मे पहले लोग प्रकृति की पूजा करते थे और बाद मे अपने पूर्वजो की पूजा करने लगे। पूजा की प्रथा इतनी अधिक बढ गई कि समाज मे पुजारियो का एक नया समुदाय पैदा हो गया। इन लोगो का कार्य केवल धार्मिक संस्कारो को पूरा करना था। ये लोग परम्पराओ मानते थे जिसके परिणामस्वरूप बाद मे विधि की उत्पत्ति हुई। कालान्तर मे धर्म प्रसार के लिए बहुत से युद्ध हुए और इस प्रकार छोटे समुदायो से बड़े समुदायो का विकास हुआ जिसके सुसगठित रूप को आज का राज्य कहा जाता है।

धर्म के अतिरिक्त उद्योग धन्धो ने भी राज्य की उत्पत्ति मे बड़ा सहयोग दिया। मनुष्यो के जीवन मे आर्थिक परिवर्तनों के कारण सहयोग की भावना पैदा हुई जिससे परिणामस्वरूप वे सगठित होकर एक ही स्थान पर काम करने लगे। इससे नगरों एव गावो की उत्पत्ति हुई। इन व्यक्तियो की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी बढ़ी और इसके लिए उन्हे एक ऐसी संस्था की आवश्यकता पड़ी जो उनकी सम्पत्ति की तथा जीवन की रक्षा कर सके, साथ ही उन्हें जीवन की अन्य सामग्रिया--जैसे भोजन, वस्त्र आदि—प्राप्त करने की सुविधा प्रदान कर सके। इस भावना से भी राज्य की उत्पत्ति हुई।

लोगो के आवास प्रवास एव पारस्परिक सग्रामो के कारण भी राज्य-निर्माण मे बडी मदद मिली। शक्तिशाली कबीलो ने भी निबल कबीलो को पराजित कर के दास बनाना प्रारम्भ किया और इस प्रकार उनकी सख्या मे निरतर वृद्धि होती चली गई। विजयी कबीलो का सरदार पराजित कबीलो का भी सरदार होने लगा और उसकी इच्छा ही विजयी एव पराजित दोनो कबीलों मे सर्वोपरि मानी जाने लगी। इस प्रकार वृहद् कबीलो से राज्य तथा कबीलों के सरदार से राजा की उत्पत्ति हुई।

आलोचना—उत्पत्ति का यह सिद्धा त किसी एक तथ्य पर नहीं वरन् विभिन्न ऐसे तथ्यो पर आधारित है जो निस देह सामाजिक विकास म सहयोग प्रदान करते हैं। इस सिद्धान्त को वास्तव मे सभी सिद्धा तो का सम्मिश्रण कहा जा सकता है। यह शक्ति-सिद्धान्त से युद्ध को लेकर कहता है कि इसके कारण छोटे से बडे समाजों की रचना हुई और मनुष्य मे सुरक्षा की भावना के कारण एकता तथा सहयोग की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनो भावनाएँ राजनीतिक समाज की रचना के लिए बहुत ही आवश्यक तत्व है। दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त से इसने धर्म को लेकर कहा कि धम के ही कारण कबीलो मे एकता पदा हुई और अपने धम को सर्वोपरि एव अधिक शक्तिशाली प्रमाणित करने के लिए भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियो म पारस्परिक सघष हुए जिसके परिणामस्वरूप छोटे से बडे समुदायो की रचना हुई। इन समुदायो को आत्म-रक्षा के लिए अपनी व्यवस्था बनानी पडी और इस प्रकार इनसे राज्य की उत्पत्ति हुई। प्राकृतिक उत्पत्ति के सिद्धान्त से यह मनुष्य की सामाजिकता की भावना को लेकर कहता है कि राज्य व्यक्तियों के साथ-साथ रहने की भावना का ही परिणाम है। यह सामाजिक सविदा के सिद्धा त से भी बहुत कुछ सहारा लेता है और कहता है कि राजा एव प्रजा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है जो कि समय समय पर विभिन्न रूपो मे प्रदर्शित होता रहा है। आजकल इस सिद्धा त म मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, भौगोलिक एव वशात्मक तथ्यो को भी जोड दिया गया है और कहा गया है कि राज्य की उत्पत्ति मे इन विभिन्न तथ्यो ने भी बहुत-कुछ सहयोग दिया है। यह सिद्धा त कल्पना पर नही वरन् साक्ष्यो एव तथ्यो पर आधारित है। इस सिद्धा त को यदि वैज्ञानिक सिद्धान्त कहा जाय तो इसमें किंचित्‌मात्र भी त्रुटि नही होगी।

Herbert Spencer has criticised Sir Henry Maine s theory of the evolution of State on the ground that it cannot be accepted as final solution of the originally organised tribes on a matriarchal

not on a patriarchal model But there is no proof that at any period
the maternal system holds any exclusive possession of the human
race He says, "Nor it is correct to say that primitive society was
derived from the other The form of social organisation every where
is to some extent moulded by social and economic environment

इसम स देह नही कि यह सिद्धान्त हमें राज्य की उत्पत्ति के विषय म बहुत
तथ्यो अवगत कराता है पर हम इस सिद्धा त की सूक्ष्म परीक्षा कर यही पाते हैं
" ' है अ य सिद्धान्तो के मिश्रण के अतिरिक्त कुछ भी नही है। इसे एक
स्व। न सिद्धान्त कहना भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

राज्य के अन्य सस्थाओ से अन्तसम्बन्ध (Inter Relation Ship with other Institutions)

राज्य और राष्ट्र मे अ तर—साधारणतया राज्य और राष्ट्र को पर्याय वाची समझा जाता है, पर तु राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण से राज्य और राष्ट्र की पृथक्-पृथक इकाइयां होती है। राष्ट्र का सम्बन्ध भाव से होता है और राज्य का सम्ब ध एक राजनीति स गठन क अस्तित्व से। अत इन दोनो म परस्पर अन्तर होता है। कुछ लोग राष्ट्र का अर्थ एक निश्चित, भौगोलिक सीमा मे रहने वाली जाति से किया करते हैं, कि तु यह अर्थ वास्तव मे अशुद्ध और सकीर्ण विदित होता है। राष्ट्र शब्द म एक विशुद्ध राजनीतिक धारणा छिपी हुई होती है, और राष्ट्र केवल उसी जाति अथवा भौगोलिक सीमा मे रहने वाले समूह को कहा जाता है, जिसको पूर्ण रूप से राजनीतिक स्वत त्रता प्राप्त हो। गिलक्राइस्ट के शब्दो म—"राज्य तथा और कुछ मिलकर राष्ट्र बनता है। राज्य मे जब जनता की एकता का भाव उत्पन्न होता है तब राष्ट्र का रूप धारण करती है।'

जे एस मिल के अनुसार—' राष्ट्र मनुष्य जाति का एक ऐसा अ ग होता है, जो अ य लोगो की तुलना म एक दूसरे के समान सहानुभूतियो के धागे मे बिंधा रहता है तथा एक ही समान सरकार के अधीन रहने की प्रबल इच्छा रखते हो।"

बाकर के अनुसार—"राज्य का अस्तित्व एक ही महान उद्देश्य के लिए होता है। समाज के उद्देश्य अनेक हो सकते हैं कुछ बडे और कुछ छोटे, पर सब मिल कर व्यापक और गहरे हो जाते हैं।"

गानर के शब्दों म— 'राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि स सगठित रूप म एक ऐसा सामाजिक समुदाय होता है जो आध्यात्मिक जीवन और उसकी अभि व्यक्ति को

एकता के प्रति सचेत तथा दृढ सकल्पी होता है।"[1]

रैम्जे म्योर (Ramaso Muir) ने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार से अभिव्यक्त की है—"राष्ट्र व्यक्तियों के इस समूह को कहा जाता है, जो विशेष सम्बन्धो के कारण स्वाभाविक एकता का अनुभव करते हैं। वे सम्बन्ध ... इतने दृढ तथा वास्तविक होते हैं कि जिनके आधार पर व्यक्ति एक साथ र... पसन्द करते हैं। यदि उन्हे समाज से पृथक कर दिया जाय तो उन्हे दु... असन्तोष होता है।"

बर्गेस के अनुसार—"राष्ट्र नस्ल सम्बन्धी एकता युक्त वह जनता कहलाती है, जो भौगोलिक एकता के किसी भू खण्ड पर निवास करती हो।" इनके अनुसार नस्ल को राष्ट्र का मुख्य आधार माना गया है, जबकि आधुनिक युग म नस्ल का सम्मिश्रण इतना व्यापक हो गया है कि, 'अमुक राष्ट्र का उदय अमुक नस्ल से हुआ है', यह ढूढना असम्भव है।

मार्शल स्टालिन ने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार से अभिव्यक्त की है—"राष्ट्र ऐतिहासिक रूप से निर्मित जनता की वह दृढ एकता है, जिसका निर्माण एक सामान्य भाषा, निश्चित भू खण्ड, आर्थिक जीवन तथा सामाजिक सस्कृति के रूप मे व्यक्त सामान्य मनोविचारो के आधार पर होता है।" इस प्रकार साम्यवादी विचारधारा के अनुसार सामान्य भाषा, सामान्य निवास व भूमि, सामान्य निवास व भूमि, सामान्य आर्थिक जीवन तथा सामान्य सस्कृति ऐसी विशेषताए हैं जो राष्ट्र के स्वरूप का निर्माण करती है।

(i) राष्ट्र का अर्थ राज्य से विस्तृत व व्यापक होता है। एकता की भावना और राज्य दोनो मिलकर ही राष्ट्र का निर्माण करते हैं। एक राष्ट्र मे अनेको राज्य हो सकते हैं, और अनेको राज्य मिलकर ही राष्ट्र कहा जाता है। जैसे अरब एक राष्ट्र है और उसमें अनेकों राज्य हैं।

(ii) किसी भी राष्ट्र का मूल आधार एकता की भावना होती है, परन्तु राज्य का मूल आधार वास्तविक सत्ता होती है। जिस राज्य मे एकता की भावना नही होती उसे राष्ट्र की गणना मे नही ले सकते हैं।

---

1 A nation is a culturally homogeneous, social group, which is atonce conscious and tenacious of its unity of phychic and Expression —Garner

(III) राष्ट्र का स्वरूप आध्यात्मिक एवं चेतनायुक्त होता है। राज्य न तो ऐसी भावनाओं को अपनी महत्ता द्वारा उत्पन्न ही कर सकता है, और न वह उसे समाप्त ही कर सकता है। राज्य पूर्णत एक राजनीतिक व्यवस्था का रूप होता है। यह मानवीय आवश्यकताओं का मूर्त रूप होता है। राष्ट्र की तरह इसका सम्बन्ध आवश्यक रूप से मनुष्य के आध्यात्मिक अथवा उसकी अमूर्त भावनाओं से नहीं होता।

(IV) राष्ट्र के निर्माण में कोई निश्चित तत्व नहीं होते हैं, जैसे कि राज्य के निर्माण में जनसंख्या निश्चित भू भाग सरकार तथा सम्प्रभुता ही राज्य के मूल तत्व होते हैं उनसे राज्य का निर्माण होता है किन्तु राष्ट्र के विषय में कदापि नहीं कहा जा सकता। राष्ट्र के निर्णायक तत्व (जैसे भाषा और धर्म) सदा बदलते रहते हैं कभी भी निश्चित नहीं हो सकते, जबकि राज्य के निर्माण तत्व निश्चित होते हैं।

(V) राष्ट्र और राज्य का सम्बन्ध किसी भू खण्ड विशेष से होता है किन्तु राष्ट्र उस भूखण्ड विशेष से बाहर भी फैल सकता है। गानर के अनुसार—'यदि राज्य को हम नस्ल सम्बन्धी अथवा भाषा सम्बन्धी जनसमूह के रूप में मान लें, तो राज्य की सीमाएं उसकी सीमाओं से बाहर फैल सकती है, तथा इसी प्रकार राष्ट्र की सीमाएं राज्य की सीमाओं से अधिक विस्तृत हो सकती है।

(VI) राष्ट्र की शक्ति नैतिक होती है, जबकि राज्य शक्ति पुलिस शक्ति होती है। राष्ट्र अपील करता है, समझाता है अथवा बहिष्कार करता है, जबकि राज्य का कार्य आज्ञा देना, राज्य करना तथा दण्ड देना होता है।

मत राज्य वह समुदाय होता है, जिसमें मनुष्य एक निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत विधि के लिए संगठित रहते हैं। किन्तु राष्ट्र वह समुदाय होता है, जिसमें मनुष्य मनोवैज्ञानिक रूप के साथ साथ रहने की इच्छा रखते हैं।

राज्य और समुदाय—समुदाय मानव का वह संगठन होता है, जिसका निर्माण किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति अथवा मानव जीवन के किसी पहलू विशेष की उन्नति के लिए किया जाता है। उसका निर्माण किसी निश्चित उद्देश्य से किया जाता है तथा उसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है।

1) सदस्यता की दृष्टि से—सदस्यता की दृष्टि से राज्य तथा अन्य समुदाय से सबसे बड़ा अन्तर यह रहता है कि राज्य को छोड़ कर अन्य सभी समुदायों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करती है, जबकि राज्य की सदस्यता ऐच्छिक न हो कर

अनिवार्य होती है, और मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी राज्य का सदस्य होता है जहां तक समुदायो की सदस्यता का सम्बन्ध है, इनका सदस्य बनने या न बनने के लिए मनुष्य पूर्णत स्वतन्त्र रहता है। इसके अतिरिक्त एक मनुष्य एक ही समय मे एक ही राज्य का सदस्य (नागरिक) हो सकता है, जबकि एक ही मनुष्य एक समय मे, कई समुदायो की सदस्यता स्वेच्छापूर्वक ग्रहण कर सकता है।

2) सीमा की दृष्टि से सीमा की दृष्टि से राज्य तथा समुदाय मे यह मतभेद रहता है कि राज्य का अपना निश्चित् तथा सीमित भू भाग तथा कार्य क्षेत्र होता है, जबकि समुदाय अधिकाशत भूमि की दृष्टि से सीमा मे बन्धे नही रहते हैं। आधुनिक काल मे मनुष्य के ऐसे समुदाय होते है, जिनमे विभिन्न राज्यो तथा राष्ट्रो के सदस्य सम्मिलित है, तथा जिनका कार्य क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय भी होता है। रेड क्रास सोसायटी इस प्रकार का एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय माना जाता है।

3) लक्ष्य की दृष्टि से—लक्ष्य की दृष्टि से यह कहा जाता है कि समुदायों का लक्ष्य विशिष्ट तथा सीमित होता है, जबकि राज्य का लक्ष्य उसकी तुलना मे बहुमुखी एव व्यापक होता है। राज्य का कार्य आज शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा तक ही सीमित नही रहा है, बल्कि उसकी व्यापकता मे मानव जीवन के लगभग सभी पहलू किसी न किसी रूप मे सम्मिलित है इसके विपरीत समुदायो का एक निश्चित् लक्ष्य होता है, जो राज्य की तुलना मे अत्यधिक सीमित होता है। उदाहरणार्थ—आर्थिक समुदायो का सम्बन्ध अपने सदस्यो के केवल आर्थिक हित से शैक्षिक समुदायो का सम्बन्ध अपने सदस्यो के केवल शैक्षिक हित से, अथवा धार्मिक समुदायो का सम्बन्ध अपने सदस्यो के केवल धार्मिक हित से होता है जबकि राज्य का कार्य सभी क्षेत्रो मे व्यक्तियो के हित के लिए किया जाता है। समुदाय अपने उन थोडे से व्यक्तियो व सदस्यों के लिए ही कार्य करता है, जो उन समुदाय के नियमित सदस्य होते हैं। राज्य की दृष्टि मे सभी व्यक्ति समान होते है और समानता की ही भावना के आधार पर राज्य समाज का विधि द्वारा सचालन करता है।

4) स्थायित्व की दृष्टि से—राज्य स्थायी होता है और अन्य समुदाय अस्थायी। अन्य समुदाय बनते और बिगडते रहते है, जबकि राज्य का अस्तित्व स्थायी होता है। कुटुम्ब और चर्च को छोड कर अन्य समुदायो का निर्माण ही सम्भवत स्वय राज्य के पश्चात् हुआ है। समुदाय बनने तथा उनके बने रहने की सम्भावना स्वय राज्य के स्थायित्व पर ही निर्भर करती है। राज्य सुव्यवस्था के जिस वातावरण को जन्म देता है उसी मे अन्य समुदाय फलीभूत हो सकते हैं। विल्सन के कथनानुसार—"समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता राज्य के स्थायित्व पर ही निर्भर रहती है।

प्रकार स्थान और काल दोनो की ही दृष्टि से राज्य अन्य समुदायो की रक्षा करता है।' अन्य समुदायो का जीवन ही राज्यो पर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है, क्योंकि यदि राज्य उन्हे लोक हित के विरुद्ध पाता है, तो समुदायों की जीवनलीला को समाप्त भी कर सकता है।

5) प्रभुता तथा साधन की दृष्टि से—राज्य सर्वोपरि समुदाय है और अन्य समुदाय उसके अधीन रहते हैं। राज्य प्रभुत्व सम्पन्न है, जबकि अन्य समुदायों को राज्य की भाति सम्प्रभुता प्राप्त नही होती है। राज्य के कानूनो तथा आदेशो के पीछे राज्य प्रभुत्व की शक्ति होती है। अत नागरिको के लिए इनका मानना अनिवार्य हो जाता है। इनकी अवहेलना करने वाला दण्ड का भागी होता है। इसके विपरीत अन्य समुदायो को विधि द्वारा प्राप्त ऐसी कोई शक्ति नही होती। वे केवल सदस्यो से प्रार्थना कर सकते है, और अधिक से अधिक उन्हे समुदाय छोडने के लिए बाध्य कर सकते हैं, परन्तु बलपूर्वक अपने नियमो का पालन वे व्यक्तियो से नही करवा सकते। मानव और समुदाय दोनो ही राज्यों के अन्तर्गत रहते हैं, तथा उन दोनो पर ही राज्य की सम्प्रभुता की मान्यता रहती है, जो कि समुदाय अपने सदस्यों पर लागू नही करवा सकता।

राज्य और समाज—समाज ऐसे व्यक्तियो का एक समूह मात्र है जो सामान्य उद्देश्यो, अपने कार्यों तथा मनोकामनाओ की पूर्ति के लिए सगठित हो कर साथ-साथ रहते हो। मनुष्य के जितने भी सामूहिक उद्देश्य तथा सम्बन्ध होते हैं, उन सबका श्रेय समाज मे ही होता है। समाज का उद्देश्य मानव जीवन के भौतिक, नतिक, धार्मिक, मानसिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आदि प्रत्येक पहलू को विकसित करके उन्नत बनाता है। व्यवहारिक दृष्टि से समाज उन विभिन्न समुदायों का समूह है जिसमे से प्रत्येक मानव जीवन के किसी न किसी पहलू की उन्नति में सलग्न रहता है। बाकर के अनुसार— समाज से हमारा तात्पर्य अनेक उद्देश्यो तथा अनेक सस्थाओ वाले उन सब ऐच्छिक समूहो तथा समुदायो मे होता है जो किसी राष्ट्र के अन्तर्गत होते हैं। सामूहिक रूप से तथा समष्टि मे ये ही समुदाय उस सामाजिक ढाचे का निर्माण करते हैं, जिसे हम समाज के नाम से पुकारते हैं।

राज्य और समाज का अन्तर (1) लक्ष्य की दृष्टि से—लक्ष्य की दृष्टि से यदि राज्य और समाज को देखा जाय तो समाज व्यापक तथा राज्य सकुचित होता है। समाज का लक्ष्य मानव की बहुमुखी उन्नति होता है वह मानव के व्यक्तित्व के पहलू, धार्मिक, नैतिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक आदि से सम्बन्धित

रहता है और उनकी देखरेख और उन्नति के उत्तरदायित्व का वहन करता है जबकि राज्य का एक सीमित उद्देश्य होता है और उसका उत्तरदायित्व मुख्यत समाज मे ऐसी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना होता है, जिससे समाज मे विधि की सत्ता स्थापित हो सके और वह शांतिपूर्वक उन्नति कर सके। इस प्रकार समाज यदि अपने उद्देश्य मे बहुमुखी होता है तो राज्य का दृष्टिकोण एकमुखी।

बाकर की दृष्टि मे "उद्देश्य की दृष्टि से भी राज्य और समाज म भिन्नता पाई जाती है। राज्य का अस्तित्व एक महान् उद्देश्य के लिए होता है, जबकि समाज का अस्तित्व अनेक उद्देश्यो के लिए होता है, जिनम कुछ महान् तथा कुछ साधारण होते हैं, किन्तु जो समष्ठि रूप से अत्यन्त गम्भीर तथा व्यापक होते हैं।"[1]

(ii) सगठन की दृष्टि से–राज्य और समाज मे सगठन की दृष्टि से भी आधारभूत अन्तर पाया जाता है। लक्ष्य की दृष्टि से बहुमुखी होने के कारण समाज अनेक समुदायों का समूह होता है, क्योकि ये समुदाय ही पृथक-पृथक् रूप से समाज के विभिन्न उद्देश्यो को प्राप्त करने का कार्य करते हैं। समाज ऐसे अनेक समुदायो मे बटा होता है जिनके सभ्य भी भिन्न भिन्न होते हैं। इसके विपरीत राज्य सगठन की दृष्टि से एकात्मक होता है यद्यपि काय की सुविधा की दृष्टि से उसके विविध अग अर्थात् सरकार के विभिन्न भाग अवश्य होते है, तथापि लक्ष्य की दृष्टि से उनमे एकरूपता पाई जाती है और ये सब भाग एक ही लक्ष्य को ध्यान मे रख कर काय करते हैं।

(iii) उत्पत्ति तथा आकार की दृष्टि से-उत्पत्ति की दृष्टि से समाज राज्य से प्राचीन है। सामाजिक परम्पराओ का जन्म राज्य के कानूनो से पूर्व हुआ है, और राज्य के कानून स्वय बहुत सीमा तक इनसे प्रभावित रहे हैं। राज्य समाज से कही अधिक सीमित होता है। मानवीय तथा सामाजिक जीवन के अनेक ऐसे पहलू होते हैं जिनका न तो राज्य से कोई सम्बन्ध होता है, और न इनमे राज्य हस्तक्षेप ही कर सकता है। राज्य का काय केवल मानव के बाह्य कार्यों तथा सम्बन्धो पर नियन्त्रण रखकर सामाजिक सुव्यवस्था को स्थापित रखना होता है। सहानुभूति सहयोग और सहायता जैसे सामाजिक बन्धन राज्य की सीमा से परे रहते हैं, तथा कुटुम्ब और धर्म

1 In purpose they are different the State exist for one great but single purpose, society for a number of purposes some great and some small but all in their aggregate deep as well as broad

—E Barker Principles of Social & Political Theory, p

जहा सामाजिक जीवन का प्रावश्यक प्र ग होते हैं, वहाँ राजनैतिक जीवन में इनका महत्व नगण्य होता है। मकाइवर के शब्दो मे—"यदि हम केवल विषय के तथ्यो को देखे तो यह स्पष्ट होता है कि कुटुम्ब चच प्रथवा क्लब जसी प्रनेक ऐसी सामाजिक सस्थाए होती है जो न तो राज्य द्वारा उत्पन्न की जाती है, प्रौर न उसके द्वारा प्रनुप्रशित की जाती हैं।"

(iv) तत्वो की दृष्टि से—तत्वो की दृष्टि से भी राज्य प्रौर समाज में महत्वपूर्ण प्र तर रहता है। राज्य के चार निर्णायक तत्व होत हैं—जनसख्या, निश्चित् भू-भाग सरकार तथा सप्रभुता। जहा तक जनसख्या का प्रश्न है, यह राज्य तथा समाज दोनो मे ही पा ई जाती है। भू भाग भी राज्य तथा समाज दोनो के लिए प्रावश्यक प्र ग होत हैं। क्योकि फिरदरो का गिरोह चाहे व कितना ही बडा क्यो न हो, समाज की श्रेणी मे नही प्रा सकता। समाज के लिए भू भाग होना प्रावश्यक है, यद्यपि समाज का भू-भाग इतना निश्चित् नही होता जितना की राज्य का। इस प्रकार जनता तथा भू भाग ऐसे दो तत्व होते हैं, जो राज्य तथा समाज दोनो में ही समान रूप से पाये जाते हैं। सरकार प्रौर सम्प्रभुता राज्य के दो तत्व ऐसे हैं, जिन का समाज स सीधा कोई सम्ब घ नही होता। इस प्रकार निर्णायक तत्वों की दृष्टि से भी राज्य तथा समाज एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं।

(v) शक्ति की दृष्टि से—राज्य प्रौर समाज शक्ति सम्पन्नता की दृष्टि से भी भिन्न होते हैं। राज्य पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सस्था होने के नाते, कानूनो तथा प्रादेशो के पीछे राज्य की शक्ति होती है तथा इनकी प्रवहेलना करने वाले दण्ड के भागीदार होते हैं। इसके विपरीत समाज को यह भौतिक शक्ति प्राप्त नही होती। समाज का बल केवल नतिक होता है। बाकर की दृष्टि मे—'समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग का होता है, सद्भावना का बल उसका होता है, प्रौर लचीलापन होता है, उसकी क म पद्धति। जबकि राज्य का काय क्षेत्र यान्त्रिक कायवाही का काय क्षेत्र होता है, सैन्य शक्ति उसका बल होती है प्रौर कठोरता उसकी काय पद्धति होती है।"

प्रत राज्य तथा समाज म यद्यपि महत्वपूर्ण प्रन्तर होता है, फिर भी दोनो मे घनिष्ठ सम्ब ध रहता है। यदि राज्य शान्ति तथा व्यवस्था रखकर उन परिस्थितियो को बनाए रखता है, जिनके बिना समाज के प्रस्तित्व को ही भय उत्पन्न हो सकता है, तो दूसरी प्रोर समाज उस पृष्ठ भूमि का निर्माण करता है जिसमे राज्य का निर्वाह सम्भव होना है। यदि समाज राजनैतिक सगठन को प्राधार मिला है तो सामाजिक ब धनो को स्थिर बनाए रखना, राज्य का मुख्य उत्तर

दायित्व होता है। अतः दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है, तथा एक के बिना दूसरे के सफल अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

राज्य और सरकार (State & Government)—सरकार के बिना राज्य का निर्माण पूर्ण नहीं होता। राज्य के संगठन को ही सरकार कहा जाता है। सरकार की स्थापना के साथ-साथ राज्य की स्थापना होती है। यह वह मशीन है, जो राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करती है। यह राज्य का क्रियात्मक रूप है, एवं राज्य की आत्मा का कार्य करती है। सरकार के अभाव में राज्य छिन्न-भिन्न हो सकता है। सरकार का कार्य कानून बनाना, देश की रक्षा करना, तथा सुख शान्ति को कायम रखना होता है। सरकार ही नियम पालन न करने वालों के लिए दण्ड का विधान कायम करती है। सरकार का निश्चित् स्वरूप नहीं हो सकता। यह प्रजातान्त्रिक भी हो सकती है, और साम्यवादी तथा एकतन्त्रवादी भी।

राज्य और सरकार में भिन्नता—राज्य और सरकार ये दोनों शब्द एक दूसरे के लिए प्रयोग किए जाते हैं, मानो कि इन दोनों में कोई अन्तर न हो। इंगलैण्ड के स्टुअर्ट शासक अपनी निरकुंश सत्ता को न्याय सिद्ध करने के लिए दोनों में कोई भेद नहीं मानते थे। फ्रांस का सम्राट लुई चौदहवां (Louis XIV) कहा करता था, "मैं ही राज्य हूँ।" हाब्स ने भी राज्य और सरकार का प्रयोग समान अर्थों में किया है। वास्तव में राज्य और सरकार में मौलिक अन्तर है। राज्य एक व्यक्तिगत सम्पन्न संस्था है, तथा सरकार इसकी ओर से उसके अधीन रहकर उसकी इच्छाओं तथा संकल्पों को क्रियात्मक रूप प्रदान करने वाला केवल यन्त्र मात्र है। यदि राज्य राजनीति शास्त्र की एक कल्पना है, तो सरकार इसका जीवित तथा स्थूल रूप है। विलोबी के अनुसार—"राज्य तथा सरकार का अन्तर, उस अन्तर के समान है जो व्यक्ति के नैतिक तथा बौद्धिक व्यक्तित्व और उसके भौतिक व्यक्तित्व में होता है।"[1]

(1) प्रधान और प्रतिनिधि का भेद—यदि राज्य प्रधान है, तो सरकार उसकी प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था मात्र है। राज्य सुसंगठित व्यक्तियों का एक प्रभुत्व सम्पन्न समूह है, जिसका उद्देश्य सब साधारण की उन्नति करना होता है।

---

1 It is analogous to the distinction between a given individual as a moral and intellectual being and as having a physical body

Willoughby, The Fundamental Concepts of Pub'c Law p

एक परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक निश्चित संगठन की आवश्यकता होती है, और ऐसे ही संगठन को सरकार कहते हैं। सरकार राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक यंत्र होती है और सरकार उसका भोग केवल राज्य की ओर से प्रतिनिधित्व के तौर पर करती है। मैकाइवर के अनुसार—"राज्य एक आदर्श व्यक्ति है, जो अरूप, अदृश्य और अमर है। सरकार राज्य की एक प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था मात्र है।

(2) पूर्ण और आंशिक का भेद—यदि राज्य एक विशेष तथा पूर्ण कल्पना है तो सरकार उसका एक अंश मात्र है। राज्य की जनसंख्या, का एक छोटा सा भाग होता है, और उसे राज्य द्वारा उद्देश्य पूर्ण करने का कार्य सौंपा गया है जिसके लिए राज्य का अस्तित्व होता है। सरकार प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं हो सकती, यह प्रभुसत्ता शक्ति (Sovereign Power) की केवल प्रतिनिधि मात्र है और उसके पास अधिकार का केवल पट्टा है, जो प्रभुसत्तावान् (राज्य) द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

मैकाइवर के अनुसार—"जब हम राज्य के विषय में बात करते हैं, तब हमारा अर्थ उस संगठन से होता है। जिसका प्रशासकीय अंग सरकार होती है। राज्य का एक समूह होता है जब हम सम्पूर्ण ढांचे के विषय में विचार करते हैं, तब हम राज्य पर विचार करते हैं।"

विधि तथा राज्य में सम्बन्ध (Relations between Law & State)

विधिशास्त्र का सम्बन्ध विधि से होता है जो कि किसी राजनीतिक रूप में संगठित समाज अर्थात् राज्य में लागू की जाती है। अतएव राज्य तथा विधि में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। इस विषय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है और उनके विभिन्न विचारों के आधार पर तीन विभिन्न विचारधाराएँ निकली हैं—

(1) राज्य ही विधि का निर्माता (The State as the creator of Law)—हाब्स सामण्ड कहते हैं कि राज्य के ही कारण तथा राज्य के ही अन्दर विधि का अस्तित्व होता है। इस प्रकार राज्य ही विधि का प्रमुख स्रोत होता है। आस्टिन का विचार है कि प्रत्येक सुस्पष्ट विधि जो किसी समुदाय में लागू है या तो सर्वसत्ता सम्पन्न प्रधान द्वारा या राज्य द्वारा बनाई गयी है। हैनिस टेलर (Hannis Taylor) का कहना है कि जब तक राज्य की रचना नहीं हुई तब तक विधि अपने निश्चित अर्थ में नहीं लागू हुई। हाब्स का भी यही विचार है कि "राष्ट्र मण्डल (Commonwealth) ही केवल विधि का निर्माण कर सकता है।" यहाँ राष्ट्रमण्डल से हाब्स का तात्पर्य राज्य से ही है।

(2) विधि ही राज्य की निर्मात्री है (Law is the creator of State)—प्रो लॉस्की तथा डा जेनिंग्स उपर्युक्त विचारधारा को नही मानते। लॉस्की कहते हैं कि 'विधि राज्य के बधन से मुक्त है और इसकी उत्पत्ति राज्य के पहले हुई है।' मिलर (Miller) ने अपनी पुस्तक "The Data of Jurisprudence" में लिखा है कि 'विधि भाषा की ही भांति समाज से स्वत उत्पन्न हुई है और उसका पहला कार्य यही रहा है कि वह राज्य की, जो कि वृहद्तम निगम (Corporation) है, विधि के अनुसार अधिकारों एवं कर्तव्यों को लागू करने के लिए रचना करें। राज्य विधि बनाता अवश्य है परन्तु यह विधि को पैदा नही करता, जैसे वह बारूद को बनाता है परन्तु उसके रासायनिक सम्बन्धों को पैदा नही करता।' ड्यूग्वी (Duiguit) तथा क्रैब (Crabbe) भी इसी विचार से सहमत हैं। उनके विचार से विधि सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम है।

मिलर के शब्दो मे—"Law like language springs from society itself and one of its first work is the creation of state, the greatest of corporations—for the enforcement of rights and duties in accordance with law"

(3) विधि तथा राज्य एक ही है (Law and State, the same things)—इस विचारधारा के प्रमुख विचारक केल्सन (Kelsen) हैं। उनका कहना है कि राज्य तथा विधि एक ही हैं क्योंकि दोनो वैधानिक व्यवस्था को ही स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु मिलर महोदय केल्सन के विचार का खण्डन करते हुए कहते हैं कि विधि तथा राज्य को समान बताना चर्च तथा राज्य को धर्म तथा राज्य को समान बताना है।

उपर्युक्त विचारधाराओं मे कोई भी विचारधारा सत्य क्यों न हो, हम विभिन्न राज्यों के निरीक्षण के आधार पर कह सकते हैं कि विधि ही राज्य का अस्त्र होती है। बिना विधि के राज्य अपनी व्यवस्था को बनाए नही रख सकता। विधि का भी अस्तित्व राज्य पर ही आधारित है। केवल राजनीतिक रूप से सगठित समुदाय मे ही विधि का अस्तित्व हो सकता है, जगल मे भ्रमण करने वाले आदिवासियो के बीच नही। विधिशास्त्र राज्य मे कार्य करने वाली ऐसी ही विधि का अध्ययन करता है। राज्य के बिना विधि का कोई अस्तित्व नहीं है और विधि के बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सम्प्रभुता
(Sovereignty)

4

"एक राज्य का दूसरे राज्य से, राज्य का अपने नागरिकों से तथा एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होता है, यह तभी समझा जा सकता है, जब हम राज्य के उस तत्व पर विचार करें जो उसे अन्य समुदायों से पृथक करता है, उसे हम सम्प्रभुता कहते हैं।" —गैटिल

जनता, प्रदेश, सरकार और सम्प्रभुता राज्य के चारों तत्वों में सम्प्रभुता सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है जिसके आधार पर राज्य को अन्य सभी समुदायों से पृथक किया जाता है। इसके कारण राज्य आन्तरिक दृष्टि से सर्वोच्च तथा बाह्य दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है, इस प्रकार सरकार के कानूनों और आदेशों को सार्थकता तथा शक्ति प्राप्त हो जाती है और लोग उसका पालन करते हैं। इसके द्वारा राज्य के निवासियों में एकता की भावना का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि वे सब एक ही सर्वोच्च शक्ति की अधीनता में रहकर एकता का अनुभव करते हैं। इस प्रकार राज्य और शासन के लिए सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करना अति आवश्यक हो जाता है।

सम्प्रभुता का अभिप्राय—सम्प्रभुता अंग्रेजी शब्द (Sovereignty) का हिन्दी रूपान्तर है। Sovereignty शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'Superanus' से बना है, जिसका अर्थ उस भाषा में सर्वोच्च शक्ति (Supreme Power) से होता है। इस दृष्टि से सम्प्रभुता का तात्पर्य राज्य की सर्वोच्च सत्ता होती है। सर्वोच्च सत्ता जिसके ऊपर अन्य किसी शक्ति का नियन्त्रण न हो। जेलिनेक के अनुसार—"सम्प्रभुता राज्य की वह विशेषता कहलाती है जिसके आधार पर इसकी अपनी इच्छा के अतिरिक्त इसको कोई दूसरी शक्ति सीमित नहीं कर सकती।" सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा शक्ति का ही दूसरा नाम है। इसके अधीन राज्य के सभी व्यक्ति, संस्थाएँ तथा समुदाय होते हैं। यह किसी शक्ति के अधीनस्थ नहीं होती, न तो राज्य के सीमा के अन्तर्गत और न सीमा

कि बाहर की ऐसी कोई शक्ति है जो उसे नियन्त्रित एवं सीमित कर सकती है। सम्प्रभुता राज्य की वह अन्तिम सत्ता होती है जिसके विरुद्ध किसी भी प्रकार की अपील नहीं की जा सकती।

राजनीतिक विज्ञान के विभिन्न विद्वानों ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। ब्राइस के शब्दों में कहा जा सकता है कि, 'सम्प्रभुता का प्रश्न राजनीतिक विज्ञान के सर्वाधिक विवादास्पद और उलझे हुए प्रश्नों में से एक है।" आधुनिक युग के राजनीति विज्ञानवेत्ताओं में सम्प्रभुता की व्यापक एवं लोकप्रिय परिभाषा देने का श्रेय सर्वप्रथम जीन बोदां (Jean Bodin) को है। उनके अनुसार—"सम्प्रभुता नागरिकों तथा प्रजाजनों की वह सर्वोपरि शक्ति होती है जिस पर कानून का कोई बन्धन नहीं होता।"[1] ग्रोशियस— सम्प्रभुता उन व्यक्तियों में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति होती है जिसके कार्य अन्य किसी के अधीन नहीं होते, तथा जिसकी आज्ञाओं का उल्लंघन न किया जा सकता है।"[2] ब्लेकस्टोन—"सम्प्रभुता वह सर्वोच्च अनिवार्य और अनियन्त्रित सत्ता है, जिसके अधीनस्थ बड़े से बड़े कानून रहते हैं।"[3] विलोबी—"सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा होती है।"[4] सोल्टाऊ—"सम्प्रभुता द्वारा शासन करने की सर्वोच्च कानूनी शक्ति है।"[5] बर्गेस—"सम्प्रभुता प्रत्येक प्रजाजन तथा उनके समस्त समुदायों के संघों पर निरकुंश तथा असीमित शक्ति होती है।"[6] ड्यूग्वी—"सम्प्रभुता राज्य की शासन शक्ति या आज्ञा देने की शक्ति होती है। वह राष्ट्र की इच्छा है, जिसका संगठन राज्य के रूप में हुआ है। वह राज्य की सीमा के भीतर सब व्यक्तियों को आदेश देने का

---

1 Sovereignty is the Supreme Power of the State over Citizens and Subjects unrestrained by Law —Jean Bodin

2 Sovereignty is the Supreme Power vested in him, whose acts are not subject to any other and whose will can not be over ridden —Grotius

3 It is the Supreme irresistible absolute uncontrolled authority in which the jura Summre imperal reside —Blackstone

4 Sovereignty is the Supreme will of the State —Willoughby

5 Sovereignty is the exercise o final legal coercive power of the state —Soltau

6 Sovereignty is the original absolute and unlimited power over individual subjects and associations of subjects —Burgess

अधिकार रखती है।"[1] आस्टिन—"यदि किसी राजनीतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे देखा जा सके, जो किसी के अधीन नहीं हो और सारा संगठित समाज जिसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करता हो, तो वह व्यक्ति राजा और संगठित समाज एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है।"[2]

सम्प्रभुता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति होती है जिसके द्वारा राज्य के निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों एवं समुदायों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है और जिसके आधार पर एक राज्य अपने ही समान दूसरे राज्यों के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

सम्प्रभुता की विशेषताएँ (Characteristics of Sovereignty)

(1) निरपेक्षता अथवा निरकुंशता (Absoluteness)— सम्प्रभुता का अर्थ सर्वोच्च शक्ति से होता है। यह सर्वोच्च शक्ति निरपेक्ष एवं निरकुंश होती है। सम्प्रभुता, आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में निरकुंश एवं सर्वोच्च होती है। आन्तरिक क्षेत्र में सम्प्रभुता सभी व्यक्तियों एवं समुदायों पर नियन्त्रण रखती है, शक्ति के आधार पर उनसे अपनी आज्ञाएँ भी मनवा सकती है और किसी के द्वारा भी राज्य की आज्ञाओं को चुनौती दी जा सकती है। इसी प्रकार बाहरी क्षेत्र में राज्य दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। वैधानिक दृष्टि से आन्तरिक एवं बाह्य क्षेत्र में राज्य की सम्प्रभुता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता है। आस्टिन के शब्दों में कहा जा सकता है कि, 'सम्प्रभु अन्य सभी से आदेश पालन कराने की स्थिति में होता है, किन्तु स्वयं किसी के आदेश पालन का आदि नहीं होता।"

---

1 Sovereignty is the Commanding Power of the State It is the will of the Nation organised in the State It is the right to give unconditional order to all individuals in the territory of the State —Duguit

2 If a determinate human superior not in the habit of obedience to like a Superior receives habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is Sovereign in that society, and the society including the superior is a society Political and independent —Austin

(2) सर्वव्यापकता (Universality or all comprehensiveness)—सम्प्रभुता की सर्वव्यापकता का तात्पर्य यह होता है कि, राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों एवं समुदायों पर राज्य की प्रभुत्व शक्ति का नियन्त्रण रहता है, और इनमें से कोई भी सम्प्रभु शक्ति से मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता। यदि राज्य के अन्तर्गत किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, तो इन विशेषाधिकारों का अस्तित्व ही राज्य की इच्छा पर ही निर्भर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मान्यता देना अथवा न देना सम्प्रभु की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः कहा जा सकता है कि राज्य के अन्तर्गत जितनी भी वस्तुएं होती हैं, उन सब पर सम्प्रभुता का आधिपत्य पूर्ण रूप से रहता है।

(3) स्थायित्व (Permanence)—गार्नर के अनुसार "स्थायित्व से आशय यह है कि, जब तक राज्य कायम रहता है तब तक सम्प्रभुता कायम रहती है, प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालिक पदच्युति तथा राज्य के पुनः संगठन के कारण सम्प्रभुता का नाश नहीं होता। वह उसी क्षण नये प्रभुत्वधारी के हाथों में पहुँच जाती है।" अतः सम्प्रभुता राज्य के समान ही स्थायी है। सम्प्रभुता और राज्य का एक साथ अन्त होता है। यदि कोई राजा या राष्ट्रपति मरता है या पद त्याग करता है, तो उससे राज्य या सम्प्रभुता का अन्त नहीं होता है।

(4) अदेयता व अपरित्याज्यता (Inalienability)—गार्नर के अनुसार 'सम्प्रभुता को त्यागना आत्म हत्या के तुल्य माना गया है। राज्य में से सम्प्रभुता को निकाल देने पर उसका वही रूप होगा, जो शरीर का प्राण निकाल देने पर उसका वही रूप होगा जो शरीर का प्राण निकाल देने पर होता है। सम्प्रभुता का व्यक्तित्व है, उसकी आत्मा। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व अदेय है और वह किसी को नहीं दे सकता, उसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता भी किसी अन्य को नहीं दी जा सकती।

(5) अविभाज्यता (Indivisibility)—सम्प्रभुत्व शक्ति का कदापि विभाजन नहीं हो सकता। सम्प्रभुता पूर्ण होती है, उसे विभाजित करने का अर्थ है, उसे नष्ट करना, और एक से अधिक राज्यों की रचना करना। गैटिल (Gettel) ने कहा है—"विभक्त सम्प्रभुता एक विरोधी पद है।"[1] सम्प्रभुता राज्य की सर्व-

1 Divided Sovereignty is a Contradiction interms —Gettell

श्रेष्ठ सत्ता होती है, और एक ही राज्य में दो सर्वश्रेष्ठ सत्ताएं निवास नहीं कर सकती। जिस प्रकार हम पृथ्वी पर पड़ते हुए सूर्य के प्रकाश को विभाजित नहीं कर सकते, शरीर में भी व्याप्त प्राण वायु को विभाजित नहीं कर सकते, पानी में व्याप्त उसकी तरलता को विभाजित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार राज्य के प्रमुख गुण सम्प्रभुता को भी विभाजित नहीं किया जा सकता। गैटिल ने भी कहा है कि, "यदि प्रभुसत्ता परिपूर्ण नहीं होती है। तब किसी भी राज्य का कोई अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। यदि प्रभुसत्ता विभाजित रहती है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व कायम हो जाता है।[1]

सम्प्रभुता के प्रकार (Kinds of Sovereignty)—

(1) नाम मात्र या ध्वज मात्र की सम्प्रभुता (Titular Sovereignty)– नाम मात्र की सम्प्रभुता का इतिहास संवैधानिक शासन (Constitutional Government) के इतिहास से जुड़ा हुआ है। सावधानिक शासन व्यवस्था में नाम मात्र का सम्प्रभु पाया जाता है। सावधानिक शासन में दो प्रकार के शासनाधिकारी होते हैं राजा या राष्ट्रपति और जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि। संविधान के अनुसार सारी शक्तियां राष्ट्रपति या राजा में निहित रहती है, लेकिन वह उनका पूरा रूप से पालन नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी शक्तियां सिर्फ नाम मात्र के लिए ही होती है उनका वास्तविक प्रयोग जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार शासन का सावधानिक प्रधान नाम मात्र के लिए ही होता है। यह एक ऐसा प्रतीक है जिसके नाम पर शासन संचालन किया जाता है लेकिन स्वयं अपनी स्वेच्छा से उन शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता। उदाहरण स्वरूप— इंगलैंड का राजा नाम मात्र का सम्प्रभु होता है शासन के सारे कार्य उसी के नाम पर किए जाते हैं, लेकिन वास्तव में उसकी शक्तियों का प्रयोग जनता के प्रतिनिधि ही करते है। भारत के राष्ट्रपति को भी इसी प्रकार के सम्प्रभु की गणना में लिया जा सकता है।

(2) वैध या कानूनी सम्प्रभुता (Legal Sovereignty)— राज्य के अन्तर्गत कानूनों का निर्माण करने और उनका पालन कराने की सर्वोच्च शक्ति जिस सत्ता के पास होती है, उसके वैधानिक सम्प्रभुता कहा जाता है। यह वह

---

1 If sovereignty is not absolute no state exists If sovereignty is divided more than one state exists —Gettell

सम्प्रभु होती है, जिसे न्यायालय स्वीकार करता है। डायसी के अनुसार—"वैध सम्प्रभुता कानून बनाने वाली वह शक्ति होती है, जो अन्य किसी भी कानून या विधि से मर्यादित नहीं होती। वैध सम्प्रभु राज्य की इच्छा को कानून का रूप देने तथा उसका पालन कराने की अन्तिम शक्ति होती है।" वह स्वयं किसी कानून या शक्ति द्वारा मर्यादित नहीं होती। इन कानूनी सत्ता के प्रतीक न्यायालय होते हैं। न्यायालय केवल उन्हीं कानूनों के आधार पर न्याय विचार करते हैं जिनके यह कानूनी सत्ता बनाती है। कानूनी सम्प्रभुता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ब्रिटिश संसद में पाया जाता है। ब्रिटिश संसद में कानून निर्मात्री शक्ति असीमित होती है। वह किसी भी विषय पर किसी भी प्रकार का कानून बना सकती है। डायसी के शब्दों में—'ब्रिटिश संसद इतनी सर्वशक्ति सम्पन्न होती है कि, वह शिशु को व्यस्क तक बना सकती है, मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति को राजद्रोह के अपराध का भागी तक बना सकती है किसी नाजायज बच्चे को जायज ठहरा सकती है, अथवा उचित समझे तो किसी व्यक्ति को स्वयं उसी के मुकद्दमे में न्यायाधीश नियुक्त कर सकती है। कोक के शब्दों में—"ब्रिटिश संसद केवल उन कार्यों को ही छोड़ती है, जो कि स्वयं प्रकृति द्वारा असम्भव होते हैं वरन् सम्पूर्ण कार्य इसकी कानूनी सर्वोच्चता के अन्तर्गत होते हैं। वह केवल मर्द को औरत और औरत को मर्द नहीं बना सकती शेष सभी काम कर सकती है।"

(3) राजनैतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty)—डायसी के मतानुसार—"जिस सम्प्रभुता को वकील लोग अस्वीकार करते हैं, उसके पीछे एक दूसरा सम्प्रभु रहता है, जिसके समक्ष वैधानिक सम्प्रभुता को सिर झुकाना पड़ता है।" राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा में राज्य की अन्तिम शक्ति निहित है। गानर के अनुसार—"वैध सम्प्रभुता के पीछे एक दूसरी सत्ता भी रहती है, जो वैध रूप में अज्ञात एवं असंगठित होती है, और जिसमें इतनी क्षमता नहीं होती कि, वह राज्य की इच्छा को वैध आदेश के रूप में व्यक्त कर सके, फिर भी जो इस प्रकार की सत्ता होती है, जिसके समक्ष वैध सम्प्रभुता को नतमस्तक होना पड़ता है, वह है—राजनीतिक सम्प्रभुता।" कानूनी सम्प्रभुता अर्थात् संसद का निर्वाचन यही राजनीतिक सम्प्रभुता अर्थात् निर्वाचक मण्डल किया करता है। यह वह शासन की अन्तिम शक्ति होती है, जिसके समक्ष कानूनी सम्प्रभुता को झुकना पड़ता है। इसकी इच्छा के विरुद्ध कानूनी सम्प्रभुता अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती है। गिलक्राइस्ट के अनुसार—"राजनीतिक सम्प्रभु एक राज्य के अन्तर्गत उन सभी परिणामों का योग होता है, जो वैधानिक सम्प्रभु के पीछे निहित रहते हैं।"

कानूनी सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता में अन्तर—प्रतिनिधि प्रजातांत्रिक (Representative Democracy) ऐसा में कानूनी सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता का अन्तर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। ऐसी शासन प्रणालियों में प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए निर्वाचक मण्डल या मतदाताओं का समूह होता है, जिसे राजनीतिक सम्प्रभु कहते हैं। मतदाताओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि समूह अर्थात् संसद को वैध सम्प्रभु कहा जाता है। राजनीतिक सम्प्रभुता को न्यायालय द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होती है जबकि कानूनी सम्प्रभुता को वास्तविक मान्यता प्राप्त होती है। न्यायालय इसी के द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार अपना निर्णय देते हैं। न्यायालय के समक्ष राजनीतिक सम्प्रभुता की कोई कीमत नहीं होती। ब्राइस के अनुसार—"वैध तथा राजनीतिक सम्प्रभुता में जो भेद पाये जाते हैं, वे केवल सम्प्रभुता की कानूनी और लौकिक कल्पना के अन्तर के कारण ही होते हैं।"

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) तथा अधिनायकतन्त्र (Totalitarianism) में सम्प्रभुता के दोनों रूपों में अन्तर देखने को नहीं मिलता। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में समस्त वयस्क नागरिक स्वयं कानून निर्माण में भाग लेते हैं। अतः राजनीतिक सम्प्रभुता तथा कानूनी सम्प्रभुता दोनों ही एक स्थान में निर्वाचक मण्डल में केन्द्रीभूत रहती हैं। अधिनायकतन्त्र में राजनीतिक सम्प्रभुता प्रायः लुप्त सी रहती है, क्योंकि वहाँ निर्वाचक मण्डल को अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं और निर्वाचन एक ढकोसला मात्र होता है। मुसोलिनी तथा हिटलर के शासन में राजनीतिक सम्प्रभुता की केवल छाया मात्र देखने को मिलती थी। इनमें सत्ता-सिद्ध (Defacto) प्रभु ही वैधानिक प्रभु है, और राजनीतिक सम्प्रभु भी।

कानूनी सम्प्रभुता और राजनैतिक सम्प्रभुता में सम्बन्ध—सम्प्रभुता के कानूनी तथा राजनीतिक सम्प्रभुता के बीच सम्बन्ध का प्रश्न काफी महत्वपूर्ण रहा है। निर्वाचक समूह राजनीतिक सम्प्रभु होता है और वह अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए कानूनी सम्प्रभु का निर्वाचन करता है। कानूनी सम्प्रभु का एक मात्र यह उद्देश्य रहता है कि राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा को कानून का रूप देना। यदि कानून सम्प्रभु राजनीतिक सम्प्रभु के हित के विरुद्ध कार्य करता है या उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता है तो जनहितकारी तथा शान्तिपूर्ण सरकार की स्थापना नहीं हो सकती है। अतः राजनीतिक सम्प्रभु मास्टर है, और वैध सम्प्रभु उसका नौकर। दोनों के बीच मतभेद नहीं हो सकता। यदि उनमें मतभेद

होता है तो अच्छी सरकार कायम नही हो सकती। वैध और राजनीतिक सम्प्रभुता दो भिन्न वस्तुए नही होती है वे राज्य की प्रभुता के दो पहलू होते हैं, यद्यपि उनको अभिव्यक्ति भिन्न मार्गों से होती है। इन दोनो के बीच सामजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। एक श्रेष्ठ व्यवस्था के अन्तगत वैधानिक सम्प्रभु को राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा से दपण के रूप में काय करना चाहिये। वैध प्रभुता या सत्ता राजनैतिक प्रभुता या सत्ता की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने का साहस नही कर सकती। यदि ऐसा करती है तो वैधसत्यता (Legal truth) राजनीतिक असत्यता म परिणित हो जाती है।

(4) लौकिक या सावजनिक सम्प्रभुता (Popular Sovereignty)—जनसप्रभुता का अथ होता है कि अन्तिम रूप म राजनीतिक सत्ता जनता के हाथो म रहती है। लोकप्रिय सप्रभुता के सिद्धात की व्याख्या मार्सीलियो आफ पेडुवा तथा विलियम आफ ओकम द्वारा मध्ययुग म हुई। पर तु इस धारणा के प्रमुख प्रतिपादक रूसो रहे हैं, जि होने सामान्य इच्छा को ही लोक प्रभुता का रूप माना है। रूसो के इस सिद्धा त का प्रभाव अमेरिका के स्वतत्रता सग्राम पर भी पडा। 19 वी सदी म रिची (Ritchie) ने भी जनसप्रभुता का प्रबल समथन किया। उनके अनुसार— कोई भी सरकार जनता की इच्छा रहने पर ही सत्तारूढ होती ह, जनता उसकी आज्ञा का पालन स्वेच्छा से करता ह।" आज के युग मे लोकतात्रिक शासन व्यवस्था इस लौकिक प्रभुता पर आधारित है। यह प्रजातत्र की रीढ ह। गानर ने इसे 'सच्चे लोकतत्र का सार माना है। डा आर्शीवादम के अनुसार—'शासन का अस्तित्व जनहित के लिए होता है। यदि जानबूझकर जन इच्छाओं की अवहेलना की जाती है, तो क्रान्ति की सभावना उत्पन्न हो जाती है। लौकिक सप्रभुता का सिद्धा त यह बतलाता है कि सरकार को सप्रभुता का प्रयोग वैध कानूनो के आधार पर ही करना चाहिए मनचाहे तरीकों से नही और निर्वाचन आदि के द्वारा सरकार को अधिकाधिक जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।

(5) वैधानिक और वास्तविक सप्रभुता (De-Jure and De-facto Sovereignty)—वधानिक और वास्तविक सप्रभुता का म तर विधि और तथ्य के अन्तर पर निभर करता ह। सम्प्रभुता वैध प्रभुता होती है और इसका आधार कवल कानून ही होता है। लेकिन कभी कभी एसा होता ह कि यह सम्प्रभुता व्यवहार म अपनी प्रभुशक्ति का प्रयोग नही कर पाती है, बल्कि दूसरी सम्प्रभु शक्ति का लोग पालन करते हैं जो वध न हो अर्थात् जिसका आधार केवल कानून

न हो। इस सम्प्रभु-शक्ति को ही वास्तविक सम्प्रभुता कहा जाता है। वैधानिक सम्प्रभुता का आधार कानून होता है, जबकि वास्तविक सम्प्रभुता का आधार केवल शक्ति। वह अपनी शक्ति के बल पर ही जनता से अपनी आज्ञाओं का पालन करवाती है, भले ही उसे शासन करने या आज्ञा पालन कराने का अधिकार कानून द्वारा प्राप्त नहीं होता हो ऐसा समय उस समय देखने को मिलता है, जब कोई सैनिक अधिनायक या राजा दूसरे राज्य पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लेता है या क्रान्ति द्वारा देश में वैधानिक सम्प्रभु को अपदस्थ कर शासन शक्ति अपने हाथों में ले लेते हैं और अपनी शक्ति द्वारा जनता को अपनी आज्ञा का पालन करवाते हैं।

वास्तविक सम्प्रभुता के अनेक उदाहरण इतिहास में देखने को मिलते हैं। नैपोलियन द्वारा डाइरेक्टरी को समाप्त कर शासन को अपने हाथों में लिया। रूस में बोल्शेविकों द्वारा जार को अपदस्थ कर शासन प्राप्त किया चीन में च्यांगकाई शेक की सरकार के स्थान पर साम्यवादी शासन की स्थापना की गई, मिश्र में जनरल नजीब, पाकिस्तान में मार्शल अयूब और बर्मा में जनरल नवीन द्वारा सैनिक क्रान्ति के द्वारा शासन को हथियाया गया आदि वास्तविक सम्प्रभु के स्पष्ट उदाहरण हैं।

सम्प्रभुता का अधिवास (Location of sovereignty)— सम्प्रभुता के अधिवास का तात्पर्य यह होता है कि सम्प्रभुता राज्य में कहाँ रहती है। 16वीं शताब्दी तक राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं में सम्प्रभुता राजा में निहित रहती थी। फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ प्राय कहा करता था कि, "मैं ही राजा हूँ मैं ही शासक हूं। (I am the State, I am the Monarch) लोकतन्त्र की स्थापना के फलस्वरूप वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सम्प्रभुता का निवास जनता में होता है इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन आधुनिक रूप में उस समय हुआ जब राजतन्त्रिया के विरोधियों ने निरंकुश राजाओं की निरंकुश सम्प्रभुता के अत्याचारों के विरोध के सहारे जनता की सम्प्रभुता की आवाज बुलन्द की। प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा (social contract) के सिद्धान्तों के आधार पर राजाओं को जो शक्ति प्राप्त थी, वह उनकी स्वयं की न होकर जनता की होती थी इसलिए यह प्रतिपादित किया गया कि अन्तिम एवं वास्तविक सम्प्रभुता जनता में ही निवास करती है। इस सिद्धान्त को

स्वीकार करने मे अनेक कठिनाइया आती हैं जो कि निम्न है—

(I) असगठित जन-समुदाय को सम्प्रभु नही का जा सकता, क्योंकि जन-समुदाय असगठित होता हैं लेकिन सम्प्रभुता आवश्यक रूप से सगठित होती है।

(II) *निर्वाचको को भी सम्प्रभु नही माना जा सकता, क्योंकि* उनकी सख्या सम्पूर्ण जनता का बहुत छोटा भाग होता हैं। इसके अतिरिक्त जनमत को राजनीतिक सम्प्रभु माना जा सकता हैं, वधानिक सम्प्रभु नही।

(III) 19वी शताब्दी के प्रतिभाशाली न्यायविशारदो ने सम्प्रभुता स विधान निर्मात्री सभा मे निहित होती ह, इस विचार के अनुसार देश का सर्वोच्च कानून का निर्माण करने वाली सभा को वैधानिक सम्प्रभु कहा जा सकता है राजनीतिक सम्प्रभु नही।

(IV) आधुनिक युग के विद्वाना का मत हैं कि सम्प्रभुता का अधिवास राज्य के विधानमण्डल मे होता हैं, *क्योकि कार्यपालिका और यायपालिका* तो विधानमण्डल की इच्छा का ही पालन करती ह। व्यवहार मे विधानमण्डल की शक्तिया सीमित होती हैं तथा सघात्मक राज्यो म शक्ति विभाजन के कारण विधानमण्डल की शक्तिया सीमित हो जाती हैं।

गैटिल के विचारानुसार—राज्य को ही वास्तविक सम्प्रभु कहा जा सकता हैं, और सरकार के विभिन्न अग ही सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने वाले अग होत हैं। इस सिद्धा त के अ तगत लोकप्रभुता, वधानिक प्रभुना और राजनीतिक सम्प्रभुता सभी को उचित स्थान प्रदान कर दिया जाता हैं अत यह विचार ही अ तिम रूप से स्वीकाय है। इस प्रकार सम्प्रभुता राज्य म निवास करनी ह, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति केवल कानूना क माध्यम के द्वारा ही हो सकनी ह जि ह उनकी सरकार बनाती और कार्यान्वित करती है।

ऑस्टिन के सम्प्रभुता सबधी विचार—आधुनिक काल मे आस्टिन को सम्प्रभुता का सबसे बडा व्याख्याता माना जाता है। आस्टिन, हाब्स और बथम के विचारो से प्रभावित था। कानून के सम्ब ध म आस्टिन का विचार था कि उच्चतर द्वारा निम्नस्तर को दिया गया आदेश ही कानून होना ह। इसी विचार के आधार पर ऑस्टिन ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की धारणा का प्रतिपादन किया। राजनीति शास्त्र मे सम्प्रभुता का कानूनी सिद्धा त उसकी महत्वपूर्ण देन रही ह।

ऑस्टिन के विधि सबधी विचार—जान आस्टिन को ब्रिटिश सामान्य विधि (The Common Law) रोमन विधि शास्त्र, और जमनी की कानूनी

विचारधारा का गहरा ज्ञान था। उसने कानून को विधेयात्मक (Positive) बतलाया और प्राकृतिक विधियों में अविश्वास प्रकट करते हुए राजकीय कानून का क्षेत्र अलग किया। उसने कानून को स्पष्टता और सुनिश्चितता प्रदान करने की चेष्टा की। कानून एक सुनिश्चित सर्वो च व्यक्ति (Determinate Superior) की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। जिसके अनुसार एक निश्चित आचरण (A certain course of conduct) किया जाना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा उसे राजदण्ड भोगना पड़ेगा"। आस्टिन के अनुसार—कानून प्रभुसत्ता के आदेश होते हैं जिन्हें न्यायालयों द्वारा लागू किया जाता है। जो नियम न्यायालयों द्वारा लागू नहीं किये जा सकते उनको कानून की श्रेणी में नहीं माना जा सकता। कानून तो केवल वही होते हैं जिनको प्रभुसत्ताधारी सर्वोच्च व्यक्ति द्वारा दिया गया निश्चित आदेश हो, और जिसका उल्लंघन निश्चित रूप से दण्डनीय हो। अतः न्याय शास्त्र का सम्बन्ध केवल राज्य निर्मित विधियों से होता है और इन विधियों को बनाने व पालन कराने का एक मात्र अधिकार सम्प्रभु को ही रहता है।"

आस्टिन का सिद्धान्त (Austin's theory of sovereignty)

प्रभुसत्ता की विवेचना करने वाले विचारकों में आस्टिन का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आस्टिन ने प्रभुसत्ता की प्रकृति की व्याख्या करते हुए यह उल्लेख किया है कि यदि कोई निश्चित उच्चतम व्यक्ति किसी समकक्ष उच्च व्यक्ति की आज्ञा पालन करने का आदी नहीं है और किसी सुनिश्चित समाज द्वारा उसकी आज्ञा का पालन किया जाता है तो ऐसा सुनिश्चित उच्चतम व्यक्ति उस समाज का प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति कहलाएगा और वह समाज (उस उच्च व्यक्ति को मिलाकर) राजनीतिक एवं स्वतन्त्र समाज कहलाएगा।"[1] इस प्रकार आस्टिन के प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति में दो प्रमुख लक्षण (Marks) हैं—

(1) स्वीकारात्मक लक्षण (Positive mark)।

(2) नकारात्मक लक्षण (Negative mark)।

1 If a determinate human superior not in a habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is sovereign in that society and the society (including the superior) is a society political and independent.'

—Austin Lectures on Jurisprudence, Vol I P 221

(1) स्वीकारात्मक लक्षण (Positive mark)—इसने तात्पय यह है कि एक निश्चित समाज ऐसे निश्चित प्रधान की आज्ञा का पालन करे। एसा प्रधान एक व्यक्ति भी हो सकता है और कई व्यक्तियों का समूह भी। परन्तु आवश्यकता यह है कि ऐसा प्रधान या प्रधानो का समूह जनता द्वारा पूरी तरह से सम्मान प्राप्त करे।

(2) नकारात्मक लक्षण (Negative mark)—इसका तात्पय यह है कि ऐसा प्रधान किसी अन्य व्यक्ति की, चाहे वह समकक्षीय हो या निम्नपक्षीय आज्ञापालन करने का आदी नही होता।

आस्टिन के विचार से प्रभुसत्ता के उद्भव के पहले इन दोनो लक्षणो (Marks) का होना आवश्यक है इन दोनो लक्षणो के लिये यह भी आवश्यक है कि ये साथ-साथ ही विद्यमान हो। इस प्रकार के लक्षणो से युक्त व्यक्ति प्रभुसत्ता-धारी कहलाएगा और शेष सदस्य उसकी प्रजा। स्वीकारात्मक लक्षण के लिये आस्टिन निम्नलिखित बातें आवश्यक बताते हैं—

(i) सर्वसत्ताधारी की आज्ञा का उसकी प्रजा स्थायी रूप से पालन करे। यदि प्रजा कभी-कभी ही उसकी आज्ञा पालन करती है तो इससे प्रभुसत्ताधारी को सर्वश्रेष्ठ नही कहा जा सकता।

(ii) सर्वसत्ताधारी की आज्ञा को उसके राज्य के अधिकाश लोग माने।

(iii) समस्त प्रजा एक ही सत्ताधारी की आज्ञा का पालन करे, यह नहीं कि कुछ लोग एक सत्ताधारी की आज्ञा माने और कुछ लोग दूसरे की।

(iv) ऐसा सर्वसत्ताधारी एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह हो, क्योंकि अनिश्चित व्यक्ति न तो अपनी आज्ञा ही लागू कर सकता है और न किसी की कृतज्ञता का ही आभास कर सकता है।

नकारात्मक लक्षण के विषय मे यह ध्यान देने योग्य है कि सत्ताधारी प्रधान किसी दूसरी समकक्षीय सत्ता के आदेश का कभी-कभी मान सकता है परन्तु स्थायीरूप से ऐसी सत्ता को वह नही मान सकता। कभी कभी समकक्षीय सत्ता की आज्ञा का पालन करना एक प्रकार का अपवाद होगा, यह नियम नही हो सकता।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Austin's Theory)

आस्टिन की इस परिभाषा की विभिन्न विचारको ने बहुत ही बुरी तरह

आलोचना की है । इस आलोचना म मुख्य मुख्य बातें निम्नलिखित हैं —

(1) आस्टिन का कहना है कि सवसत्ता सम्प न प्रधान की इच्छा ही आज्ञा होती ह और लोग विधि का पालन इसलिये करते हैं क्योंकि यह सवसत्ता सम्पन्न प्रधान द्वारा लागू की जाती ह । पर तु विधि वास्तव म राज्य के प्रमुखतम उद्देश्य सावजनिक कल्याण को पूरा करने के लिये लागू की जाती है । अतएव आस्टिन का विचार वास्तविक सिद्धान्त से अलग ह ।

(2) आस्टिन न प्रभुसत्ताधारी के अधिकारों को पूर्ण बताया है परन्तु वास्तव म उसके अधिकार पूर्ण नही होते । इनके ऊपर रूढियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप स निय त्रण अवश्य रहता है ।

(3) आस्टिन न कहा है कि प्रभुसत्ताधारी किसी के अधीन नही होता । परन्तु **डायसी** का कहना है कि प्रजातन्त्रात्मक राज्य म वैधानिक प्रधान को राजनीतिक प्रधान के सम्मुख झुकना पडता है । वैधानिक प्रधान वह व्यक्ति या व्यक्तियो का समूह होता है जिसे विधि निर्माण का अधिकार मिला होता है । राजनीतिक प्रधान राज्य म उन व्यक्तियों का समूह होता है जिनसे चुन करके राज्य की व्यवस्थापिका के सदस्य आते हैं । ऐसे चुनाव क्षेत्रों का जो राजनीतिक प्रभुसत्ता रहते हैं वैधानिक प्रभुसत्ताधारियों पर नियन्त्रण रहता है । कहा जाता है कि सम्राट प्रभुसत्ताधारी श्रेष्ठतम सत्ता होती है पर तु वास्तव मे इस पर हर समय जनता का नियन्त्रण बना रहता है । ऐसी परिस्थिति म एक ही देश म राजनीतिक तथा वैधानिक दो प्रकार के सवसत्ता-सम्पन्न प्रधान हो सकते है ।

(4) सर **हेनरी मेन** कहते हैं कि आस्टिन का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त अविकसित समुदायों पर जहा प्रथाओं एव धम का बहुत प्रभाव होता है, लागू नही होता ।

(5) **लॉस्की** तथा **कोल** सदृश्य बहुलतावादी (Pluralists) विचारको का कहना है कि राज्य एक ऐसा सगठन है जिसके अन्तगत विभिन्न अन्य सगठन भी होते हैं । इन सगठनो को अपना स्वशासन चलाने का पूरा अधिकार होता है और राज्य इनके कार्यों म हस्तक्षेप नही कर सकता । अतएव इस दृष्टि से प्रभुसत्ता सीमित होती है । परन्तु इस आलोचना के विरोधियों का कहना है कि राज्य के अन्तगत बने विभिन्न सगठन राज्य से अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं । यदि राज्य चाहे तो उन्हे किसी भी क्षण समाप्त कर सकता है ।

हालैण्ड ने भी प्रभुसत्ताधारी प्रधान को सर्वसत्ताधारी माना है, और कहते हैं कि यही व्यक्ति विधि का स्रोत होता है। अतएव ऐसे प्रधान का कोई भी कार्य अवैधानिक नहीं कहा जा सकता।

पटन प्रभुसत्ता का वकीलों के दृष्टिकोण से विवेचन करते हैं। वह कहते हैं कि प्रभुसत्ता का वकीलों के अनुसार व्यवहारिक अर्थ होता है सैद्धान्तिक नहीं। इनके विचार से वकील लोग इंग्लैण्ड के सम्राट को केवलमात्र एक ऐसा व्यक्ति मानते हैं जो प्रत्येक मामले में अन्तिम आदेश देता है। वकीलों के लिए संसार की प्रभुसत्ता का तात्पर्य यह है कि न्यायालय विधि के उन नियमों को मानेंगे जिन्हें संसद ने विधान के रूप में बनाया है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रभुसत्ता राज्य की सत्ता को प्रमाणित करती है। यह राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है तथा राष्ट्रीय क्षेत्र में वैधानिक व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता देती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि इस सत्ता को धारण करने वाला कोई एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह हो और उस व्यक्ति की सत्ता अविभाज्य तथा स्थायी हो। परन्तु विचारकों ने प्रभुसत्ता के इन लक्षणों की भी आलोचना की है और कहा है कि ये सारे तत्व आवश्यक नहीं।

सामण्ड का सिद्धान्त (Salmond's Theory)

सामण्ड के मतानुसार प्रभुसत्ता अनिवार्य अविभाज्य और असीमित होती है

(1) प्रभुसत्ता आवश्यक है (Sovereign power is essential in every state)–सामण्ड ने लिखा है कि प्रत्येक राजनीतिक समाज में प्रभुसत्ता अवश्य होती है। यह प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में या कुछ व्यक्तियों के समूह में निहित होती है। सामण्ड ने लिखा है कि यह आवश्यक नहीं कि यह सत्ता किसी सत्ता के अधीन न हो। यह हो सकता है कि राजनीतिक समाज की प्रभुसत्ता किसी बड़े राजनीतिक समाज की प्रभुसत्ता के अधीन हो। केवल पूर्णतया स्वतन्त्र एवं प्रभुसत्ता सम्पन्न

1 The lawyer's view of sovereignty is based on practical consideration rather than on any theory of values—the English sovereign is merely the person who has the last word in a particular connection to an English lawyer the concept of sovereignty of Parliament merely means that the courts will recognise as law rules made by Parliament in the form of legislation "

राज्य में ही पूर्ण आन्तरिक प्रभुसत्ता होती है, बाह्य सत्ता इस पर अपना नियन्त्रण नहीं रख पाती। परन्तु जब कोई राज्य किसी अन्य राज्य के अधीन होता है तो उसकी प्रभुसत्ता उस राज्य की प्रभुसत्ता के अधीन होती है। ठीक इसी प्रकार एक राज्य स्वतन्त्र होते हुए भी यदि स्वयं अर्द्ध-प्रभुसत्ता सम्पन्न होता है तो उसमें श्रेष्ठ राज्य की प्रभुसत्ता भी उस पर लागू होती है। अतएव यह सर्वथा निश्चित है कि प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता होती है परन्तु यह निश्चित नहीं कि उस राज्य की प्रभुसत्ता पूर्णरूप से उसी राज्य में होती है।[1]

(2) **प्रभुसत्ता अविभाज्य होती है (Sovereign power is indivisible)**—प्रत्येक राज्य में प्रभुसत्ता ही नहीं होती वरन् एक प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह भी होता है। इसी व्यक्ति में राज्य की सम्पूर्ण प्रभुसत्ता निहित रहती है। कहा जाता है कि ऐसी शक्ति एक से अधिक व्यक्तियों में या व्यक्ति समूहों में विभाजित नहीं की जा सकती। एक से अधिक व्यक्ति इस सत्ता को सामूहिक रूप में धारण कर सकते हैं परन्तु वे सामूहिक रूप में इसे धारण करते हुए अपनी पृथक् सत्ता प्रदर्शित नहीं कर सकते।

इस सिद्धान्त को जब ब्रिटेन के संविधान पर लागू किया जाता है तो कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकल पाता। उससे तो यही पता चलता है कि यह सत्ता अविभाज्य होती है। इंग्लैण्ड में विधायकीय प्रभुसत्ता संसद के दोनों सदनों तथा सम्राट (Crown) में निहित होती है। कार्यपालिकीय प्रभुसत्ता सम्राट में निहित होती है, संसद के दोनों सदनों को इसमें हिस्सा नहीं मिलता तथा न्यायपालिकीय प्रभुसत्ता हाउस आफ लार्ड्स में तथा न्यायपालिकीय संस्था में निहित होती है। परन्तु व्यावहारिक रूप में हाउस आफ कामन्स को कार्यपालिका के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होता है। मन्त्रिगण व्यावहारिक रूप में हाउस आफ कामन्स के नौकर की भांति होते हैं और इसी के प्रति वे उत्तरदायी भी रहते हैं। वैधानिक रूप से मन्त्रिगण सम्राट के नौकर होते हैं और सम्राट से ही वे अपनी प्रभुसत्ता प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार वैधानिक दृष्टि से सम्राट की कार्यपालिकीय शक्ति अनन्त होती है। यह सत्ता अपने क्षेत्र में पूर्ण एवं अनियन्त्रित रहती है। परन्तु फिर भी सम्राट (Crown) को यह सत्ता अनियन्त्रित रूप में नहीं प्राप्त रहती। वह संसद

---

1 Sovereign power is necessarily present somewhere but it is not in all cases to be found in its entirety within the borders of the state

की स्वीकृति के बिना न तो विधाना को पास कर सकता है और न करा को ही लागू कर सकता । परन्तु समस्त विधियाँ लागू होती हैं सम्राट की ही स्वीकृति से और व्यवस्थापिका बिना सम्राट की इच्छा के कोई काम नहीं कर सकती। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है, क्योंकि एक पवित्र प्रथा ही पास नहीं हो सकता। यदि ... अपनी ही इच्छा से नियंत्रित होता है तो इसे नियंत्रित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इंग्लैंड का संविधान कार्यपालिका की प्रभुसत्ता का स्वीकार करता है परन्तु साथ ही साथ यह व्यवस्थापिका की भी प्रभुसत्ता स्वीकार करता है। दोनों अपने अपने क्षेत्र में सर्वोच्च शक्ति रखते हैं। दोनों के बीच ... विवाद को शान्त करने के लिये ही कार्यपालिका को सम्पूर्ण व्यवस्थापिका ... बना दिया है। व्यवस्थापिकाएं सर्वोच्च शक्ति सम्राट तथा उसकी समद ... में निहित रहती है परन्तु जब व्यवस्थापिका नहीं होती उस समय सम्राट को ही समस्त कार्यपालिकीय शक्ति प्राप्त रहती है। ठीक इसी प्रकार न्यायपालिकीय शक्ति व्यवस्थापिका की न्याय समिति (Judicial Committee of the House of Lords) में निहित रहती है। अतएव यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि प्रभुसत्ता अविभाज्य होती है।

लार्ड ब्राइस का कहना है कि वैधानिक प्रभुसत्ता विभाज्य होती है अर्थात् इसकी शक्ति न ... एक ही समय में विभिन्न व्यक्तियों या विभिन्न व्यक्ति समूहों में ... हो सकता है या ... पूर्णतया सामूहिक रूप से या अपूर्णतया सामूहिक रूप से ... होती है।

(3) प्रभुसत्ता असीमित होती है (Sovereign power is unlimited and illimitable)—प्रभुसत्ता का तात्पर्य ... सत्ता से होता है जो किसी अन्य सत्ता के अधीन नहीं होती अर्थात् जिसकी शक्ति किसी अन्य शक्ति द्वारा न तो नियंत्रित की जा सकती है न सीमित ही। ... शक्ति के शासन की रचना करना प्रभुसत्ता के स्पष्ट अर्थ में ... करता है। आस्टिन के अलावा यही नहीं कहते कि प्रभुसत्ता सम्पन्न ... नियन्त्रणों से मुक्त होता है परन्तु वह यह भी कहते हैं कि उसकी शक्ति उनके राज्य में भी किसी प्रकार की वैधानिक सीमाओं के अन्दर नहीं सीमित की जा सकती है। हॉब्स कहते हैं कि प्रभुसत्ता इतनी अधिक सीमाओं तक विस्तृत हो सकती है जितनी सीमाओं तक मनुष्य की कल्पना पहुँच सकती है। इसी

प्रकार ग्रास्टिन कहते हैं कि सर्वोच्च सत्ता को मुख्यतः विधि से सीमित करना प्रश्न में विरोधाभास पैदा करता है।

सामण्ड कहते हैं कि प्रभुसत्ता के इस लक्षण की व्याख्या को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम वास्तविक एवं वैधानिक प्रभुसत्ता में भेद करें। यदि किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान पर वास्तव में कोई बंधन लगा दिया गया है तो हो सकता है कि वह वैधानिक रूप में न हो। ठीक इसके विपरीत, हो सकता है कि सवैधानिक रूप से किसी प्रधान पर कोई बंधन लगा दिया जाय और व्यवहारिक रूप में वह न हो। प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान प्राजकल वास्तव में कुछ व्यवहारिक बंधनों से जकड़ा रहता है। सरकारें अपने देश में प्रभुसत्ता सम्पन्न तो अवश्य रहती है परन्तु बहुत से कार्यों को वे कर ही नहीं सकती। ये कार्य वास्तव में इनकी वास्तविक क्षमता के परे होते हैं। इस प्रकार प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान की शक्ति दो सीमाओं से निर्धारित होती है—

(i) प्रभुसत्ता-सम्पन्न प्रधान की शक्ति जो कि उसकी सरकार का प्रमुख अंग न होती है

(ii) उन विभिन्न संस्थाओं की इच्छा से जिन्हें इस प्रधान को शक्ति को स्वीकार करना पड़ता है।

ये दोनों बातें असीमित नहीं हैं अतएव वास्तविक प्रभुसत्ता जो इन्हीं पर आधारित होती है असीमित नहीं हो सकती। हाब्स के अनुयायी वास्तविक सीमा को स्वीकार करते हैं वैधानिक सीमा को नहीं। उनका कहना है कि यह अवश्य हो सकता है कि वास्तविक रूप में ऐसा प्रधान कुछ कार्यों को न कर सके, परन्तु वैधानिक रूप में वह प्रत्येक कार्य कर सकता है। विधि उससे ही उत्पन्न होती है अतएव विधि उसके ऊपर किसी प्रकार का बंधन नहीं लगा सकती।

इस तर्क का इस आधार पर खण्डन किया जा सकता है कि विधि केवल उसी रूप से होती है जिस रूप में वह न्यायालयों द्वारा स्वीकार की जाती है। न्यायालय विधि को व्यवहारिक जगत् में कार्य करने में रत अवस्था में देखते हैं। उस दृष्टि से केवल वही बात विधि के अनुसार सम्भव है जो व्यवहारिक रूप में सम्भव है। इस कारण प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान पर जो सीमाएँ वास्तव में लागू होती हैं वही सीमाएँ वैधानिक रूप में उसके ऊपर लागू होंगी। यदि यह स्वीकार किया जाता है कि प्रधान पर व्यावहारिक रूप में कुछ बंधन लागू हो सकते हैं तो इसका तात्पर्य यही स्वीकार करना होगा कि उस पर वैधानिक रूप में भी वही बंधन लागू हैं।

किसी भी देश में सम्पूर्ण सत्ता सम्पन्न प्रधान को इस आधार पर खोजा जा सकता है कि राज्य में विधि निर्माण तथा विधि खण्डन की सर्वश्रेष्ठ शक्ति किसे प्राप्त है। जिस व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को यह शक्ति मिली होती है वही राज्य का सर्वसत्ता सम्पन्न प्रधान होता है। यह शक्ति अधिकांशतया व्यवस्थापिका को प्राप्त होती है परन्तु व्यवस्थापिका समय समय पर बदलती रहती है और इस कारण किसी एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में इस शक्ति को केन्द्रित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ इंगलैंड की संसद केवल उसी समय तक सम्प्रभुता सम्पन्न रहती है जब तक कि वह अपने कार्य काल को समाप्त नहीं कर लेती। कार्य काल समाप्त होने ही वह पूर्णतया शक्तिहीन हो जाती है। ऐसी अवस्था में क्या सर्वसत्ता-सम्पन्न व्यवस्थापिका की शक्ति को विधि के नियमों से सीमित नहीं माना जायगा?

जब व्यवस्थापिकीय शक्ति कुछ वैधानिक अवस्थाओं से नियन्त्रित होती है तो वह वैधानिक सीमाओं से भी नियन्त्रित हो सकती है। यदि व्यवस्थापिका आज एक विधान बनाती है और उसके साथ यह शर्त लगा देती है कि वह विधान दस वर्षों तक अवश्य लागू रहेगा, तो न्यायालय इस विधान का (यदि वह अवैध नहीं है तो) दस वर्षों तक पूर्णतया पालन करने के लिए बाध्य होंगे और उनके ऊपर यह उत्तरदायित्व होगा कि वे किसी भी शक्ति को इस विधान का दस वर्ष तक खण्डन न करने दें। परन्तु बाद में वही व्यवस्थापिका उस विधान का निर्मूलन करना चाहे तो न्यायालय उसे ऐसा करने से रोक देगा और वैधानिक रूप से वह व्यवस्थापिका दस वर्षों तक उस विधान का किसी भी प्रकार निर्मूलन नहीं कर इस प्रकार का सीमा निर्धारण प्रभुसत्ता की स्वच्छन्दता को सीमित कर देता है।

आजकल के बहुत-से संविधान व्यवस्थापिका की प्रभुसत्ता पर स्वतः ही कुछ नियन्त्रण लगा देते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में न तो कांग्रेस को और न किसी इकाई राज्य की व्यवस्थापिका को ही अनियन्त्रित प्रभुसत्ता प्राप्त है। वे संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन नहीं कर सकतीं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसे राज्य में प्रभुसत्ता कहाँ निहित होती है। इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि यह सत्ता संविधान में संशोधन करने वाली शक्ति में निहित होती है। यह शक्ति केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर सदा विलुप्त रहती है। अमेरिका में प्रत्येक इकाई राज्य के तीन-चौथाई सदस्यों को यह शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के

में यह स्पष्ट कर दिया है कि संसद मौलिक अधिकारों के अध्याय में किसी प्रकार का संशोधन नहीं कर सकती है। राज्य की प्रभुसत्ता को असीम शक्ति वाली होने की कोटि से पृथक कर दिया है।

[illegible] जहाँ सामान्य व्यवस्थापिका को संविधान में संशोधन करने [illegible] संविधान किसी प्रकार [illegible] या अगर हो सकता है तो उसमें संशोधन कर सकती है, तो वहाँ प्रभुसत्ता किसमें निहित होती है? इस प्रश्न का समाधान करना [illegible] कठिन है क्योंकि वहाँ संविधान आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है।

ऑस्टिन स्वयं भी प्रभुसत्ता पर कुछ नियंत्रण स्वीकार करता है। वह कहता है कि [illegible] सीमाएं प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति के चारित्रिक विकास के कारण या राजनैतिक विद्रोह के कारण उत्पन्न होती है जो प्रभुसत्ता पर लागू होती है। इसके अतिरिक्त वह यह भी कहता है कि प्रभुसत्ताधारी प्रधान [illegible] कार्य नहीं कर सकता जो उसकी क्षमता के पर है। परन्तु ऑस्टिन किसी प्रकार की वैधानिक सीमा को स्वीकार नहीं करता।

ऑस्टिन यह [illegible] स्वीकार करता है कि प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान को अपनी प्रजा के प्रति कोई वैधानिक अधिकार नहीं प्राप्त होता न उसके प्रति इसका कोई वैधानिक कर्तव्य ही होता है। ऑस्टिन कहता है कि प्रत्येक अधिकार के लिए यह आवश्यक होता है कि [illegible] भिन्न-भिन्न [illegible] हों—एक दल को अधिकार प्राप्त हो, दूसरे दल को उसी अधिकार की पूर्ति के लिए कुछ कर्तव्य करना पड़े और तीसरा [illegible] जिसके अनुसार वह [illegible] को अधिकार [illegible] कर्तव्य को पूरा करने के लिए बाध्य कर सके। परन्तु प्रभुसत्ता सम्पन्न [illegible] तीसरे प्रकार की कोई शक्ति नहीं हो सकती अतएव उसे अधिकार [illegible] का अधिकार हो नहीं। यह प्रधान किसी के प्रति कर्तव्यपरायण भी नहीं हो सकता क्योंकि समस्त जनता उसकी प्रजा होती है तथा उसके अधीन रहती है। परन्तु व्यावहारिक रूप में हम देखते हैं कि प्रभुसत्ता-सम्पन्न प्रधान को अधिकार तो अवश्य प्राप्त होते हैं परन्तु वह कर्तव्य पूरा करने के लिए बाध्य नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा प्रभुसत्ता
(International Law & Sovereignty)

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय के बाहर व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित करना

चाहता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीयता के माध्यम से ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सम्पर्क में आ सकता है और पारस्परिक सहयोग से लाभ उठा सकता है। इसके अतिरिक्त आजकल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था हो जो अपने सदस्य राष्ट्रों की पारस्परिक कलह को दूर करके सर्वत्र शान्ति स्थापित कर सके। इन्हीं मनुष्यतापूर्ण व्यापक उद्देश्यों को लेकर आजकल संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) तथा तत्सम्बन्धी अन्य विभिन्न संस्थाओं की स्थापना हुई। ये संस्थाएं केवल राष्ट्रों को ही अपने सदस्य बनाती हैं और राष्ट्रों पर ही अपने नियम लागू करती हैं।

ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उठता है कि यदि एक सर्वसत्ता सम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्र ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सदस्य हो जाता है और इस संस्था के आदेशों का पालन करता है तो क्या उसकी प्रभुसत्ता पर आंच नहीं आती ?

आस्टिन तो कहते हैं कि कोई भी प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य किसी अन्य आन्तरिक या बाह्य सत्ता के आदेश को नहीं मानता और यदि वह मानता है तो उसका तात्पर्य यह होगा कि उसकी प्रभुसत्ता अक्षुण्ण नहीं रहेगी। ठीक इसी प्रकार ह्वीटन कहते हैं कि बाह्य प्रभुसत्ता का तात्पर्य होता है राज्य के बाहर की किसी भी सत्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता और आन्तरिक प्रभुसत्ता का तात्पर्य होता है राज्य के अन्दर विद्यमान सभी शक्तियों से अधिक शक्तिशाली होना। इस प्रकार राज्य आन्तरिक एवं बाह्य दोनों रूपों में प्रभुसत्ता सम्पन्न होता है और वह किसी भी अन्य सत्ता का आदेश मानने के लिए बाध्य नहीं होता।

परन्तु आधुनिक काल की परिस्थितियों के अनुसार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ स्वच्छन्द व्यवहार नहीं कर सकता। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार तथा राष्ट्रों के बीच होने वाले समझौते के अनुसार संचालित होते हैं। राष्ट्र जब समझौता करके स्वयं ही अपने प्रभुत्व पर नियन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में इस प्रकार के समझौतों में राष्ट्रों की वास्तविक प्रभुसत्ता पर किसी भी प्रकार की आंच नहीं आती। राज्य तो इस प्रकार की शर्तें स्वतः स्वीकार करते हैं, वे उनके ऊपर किसी अन्य शक्ति द्वारा हठात् नहीं लादी जातीं।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ (U N O) या इसी प्रकार की अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (I L O) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन (W H O) आदि—राज्यों के ऊपर अर्थात् राज्यों के राज्य (Super States) होती हैं। परन्तु राज्यों की स्वतन्त्रता ... ... अनुपात में

च्युत नहीं करती । संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र (Charter) के अनुच्छेद 25 के अनुसार सदस्य राज्य सुरक्षा-परिषद (Security Council) के निर्णयों को मानने तथा पालन करने के लिए बाध्य है और अनुच्छेद 43 के अनुसार आवश्यकतानुसार सदस्य राज्य सुरक्षा परिषद को सैनिक मदद तथा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करने को बाध्य हैं परन्तु इसका तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार के आदेश उन पर हठपूर्वक लागू किये जा रहे हैं । सदस्य राष्ट्र स्वयं ही इस प्रकार के आदेशों का पालन करने की स्वीकृति देते हैं । इस कारण ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संघों का सदस्य होने पर भी सदस्य राष्ट्रों की प्रभुसत्ता बनी रहती है । अनुच्छेद 2 (1) में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस संगठन के सदस्य राज्यों की प्रभुसत्ता समकक्षता पर आधारित होती है । ओपेनहीम संयुक्त राष्ट्र संघ को एक मण्डल मानते हैं जो कि विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों का किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए बनाया गया एक ऐसा मण्डल है जिसकी सदस्यता से सदस्य राज्यों की प्रभुसत्ता समाप्त नहीं होती । परन्तु ओपेनहीम बाद में यह भी कहते हैं कि सदस्य राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए अपनी सम्पूर्ण प्रभुसत्ता के कुछ अंश को अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को समर्पित कर देते हैं । यह प्रभुसत्ता का समर्पण इसलिए किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापिका एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सफलतापूर्वक कार्य कर सकें ।

पेन्विक के मतानुसार 'यदि 'प्रभुसत्ता' शब्द को व्यवहार में प्रचलित रहना है तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के कानून तथा व्यवस्था के अनुरूप ढंग से समझा जाना चाहिये । राज्यों को अपने मामलों में निर्णय प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए । उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के उच्च अधिकार प्राप्त रहने चाहिए । राज्यों की प्रभुसत्ता को जब तक इन सीमाओं के अन्तर्गत नहीं लाया जाता, संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर में प्रस्तुत उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता ।"

———

नागरिकता
(Citizenship)

5

"नागरिक उन राजनीतिक समाज के सदस्य होते हैं जिनसे उनका सम्बन्ध होता है। यही व मनुष्य हैं जिन्होंने अपने निजी और सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिये सामूहिक रूप में एक सरकार की स्थापना की है या अपने आपको एक सरकार के संरक्षण में सौंप दिया है।"

— संयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय न्यायालय के निर्णयानुसार

नागरिक शब्द का अर्थ—नागरिक शब्द की उत्पत्ति किसी नगर या शहर के निवासी से हुई है। इस शब्द का प्राचीन यूनान में सर्व प्रथम प्रयोग किया गया। प्राचीन यूनान में राज्य के निवासी तीन श्रेणियों में विभक्त थे। प्रथम वे नागरिक जो शासन के कार्यों में भाग लेने के अधिकारी थे, द्वितीय वे जो राज्य की प्रजा थे, किन्तु अधिकार हीन थे एवं तृतीय वे जो विदेशी थे, एवं व्यापार आदि के लिए वहां निवास करते थे। इन तीन श्रेणियों में से केवल प्रथम श्रेणी के ही व्यक्ति 'नागरिक' कहलाने का अधिकार रखते थे। उन्हें राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियों, गुलामों और नगर से बाहर रहने वालों को नागरिक नहीं समझा जाता था। प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तु के शब्दों में "वह व्यक्ति नागरिक है जो राज्य के शासन एवं न्याय विभाग के कार्यों में भाग लेता हो।"

रोम काल में नागरिक का अर्थ—रोम युग में नागरिक उन व्यक्तियों को कहा जाने लगा, जिनको वहां की सरकार कुछ राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकार प्रदान करती थी चाहे वह नगर राज्य के अन्तर्गत रहते हों, अथवा न रहते हों। इस प्रकार रोम युग में ग्रीस (यूनान) युग की अपेक्षा अधिक लोगों को नागरिक होने का अवसर प्राप्त हुआ।

वर्तमान समय में नागरिक उस व्यक्ति को कहा जाता है, जिसे राज्य की ओर से सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति हो, और जो राज्य के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा रखते हों, चाहे वह नगरवासी हो या ग्रामवासी, वनवासी हो

या बस्तीवासी, धनी हो या निर्धन, और स्त्री हो या पुरुष। राजनीति विशेषज्ञ श्रीनिवास शास्त्री ने नागरिक शास्त्र की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह विशेष उल्लेखनीय है, "एक नागरिक वह व्यक्ति है जो एक ही राज्य का सदस्य हो और समस्त समाज के उच्चतम नैतिक हितो की वृद्धि के साधनो को भलिभाति समझ कर राज्य की सीमा मे ही अपने कर्तव्य पालन और अपने उच्चतम विकास का प्रयास करता है।"[1]

वटल ने नागरिकता की परिभाषा इस प्रकार से अभिव्यक्त की है—"नागरिक समाज के वे सदस्य होते हैं, जो कुछ विशेष कर्तव्यो द्वारा समाज से बंधे हुए हों, तथा समाज के नियन्त्रण मे रहते हो, एव समाज द्वारा प्रस्तुत सुविधाओ का समान रुप मे उपभोग करते हो।"[2]

अरस्तु ने भी नागरिकता का परिभाषा इस प्रकार से व्यक्त की है, "एक नागरिक वह होता है, जिसे राज्यों द्वारा शासन के काय मे कुछ भाग प्राप्त हो, और राज्य के द्वारा ही प्रदत्त किये गये सम्मान का उपयोग करने का अधिकार हो।"[3]

इस प्रकार नागरिकता से अभिप्राय किसी देश का नागरिक होने से होता है अर्थात् दूसरे शब्दो मे नागरिक होने की दशा का नाम ही नागरिकता कहलाती है। नागरिकता उस स्थिति को कहेंगे जिसम किसी व्यक्ति को राज्य की ओर से सामाजिक और राजनैतिक दोनो प्रकार के अधिकार प्राप्त हो। परन्तु केवल अधिकारो के प्राप्त कर लेने म ही नागरिकता पूर्ण नही हो जाती। अधिकारो के साथ-साथ कुछ कर्तव्य भी होते है। बिना कर्तव्यो के तो अधिकारो की कल्पना भी नही की जा सकती। नागरिकता सम्बन्धी अधिकारो के मिलने से व्यक्ति को राज्य तथा समाज के जीवन मे भाग लेने तथा अपने जीवन का इच्छित दिशा मे विकास

1 A citizen may be defined as one who is a member of a State, and tries to fulfil and realise himselffully within it along with an intelligent appreciation of what should conduct to the highest moral welfare of the community —Shri Niwas Shastri

2 Citizens are the members of the civil Society bound to this Society by certain duties subjected to its authority and equal participation in its advantages Vatta

3 A citizen is one who has a share in the Government of the State and is entitled to enjoy its honours Aristole

करने का अवसर मिलता है। अधिकारों का सही उपयोग और कर्तव्यों का उचित प्रकार से पालन करने पर ही आदर्श नागरिकता अवलम्बित है।

अमेरिका के सघीय न्यायालय की घोषणा के अनुसार नागरिकता की परिभाषा इस प्रकार से है—

"The citizens are members of the political community to which they b long They are the people who compose the state and who in their associated capacities have established or subjected themselves to the dominion of Govt for the protection of their individual as well as their collective rights'

—Supreme Court of United States of America

नागरिकता के लिए आवश्यक शर्तें (Essential conditions of citizenship)—(1) समाज की सदस्यता–कोई भी व्यक्ति उस समय तक नागरिकता के अमूल्य अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता, जब तक कि वह किसी भी समाज का सदस्य न हो। नागरिकता अधिकारों और कर्तव्यों के पालन पर बल देती है। इन दोनों के लिए ही मनुष्य का समाज में रहना अत्यन्त आवश्यक है।

(ii) राज्य की सदस्यता—नागरिकता के लिए किसी राज्य का सदस्य भी होना आवश्यक है। अधिकारों का अस्तित्व ही राज्य के अन्तर्गत सम्भव होता है। राज्य की शक्ति के भय से ही सबल, निबल, अमीर, गरीब सभी अपने अधिकारों का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते है। जिस व्यक्ति को राज्य द्वारा सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं, वही व्यक्ति नागरिक कहलाने का वास्तविक अधिकारी होता है।

(iii) राज्य के प्रति निष्ठा—राज्य द्वारा नागरिकता सम्बन्धी अधिकार प्रदत्त किये जाते है जिसके लिए प्रत्येक नागरिक को राज्य के प्रति वफादार रहना पडता है। यदि कोई नागरिक राज्य में रहकर राज्य के विरुद्ध कार्य करता है तो उसे नागरिकता के अधिकारों से वंचित भी किया जा सकता है।

नागरिकता की प्राप्ति (Acquisition of citizenship)--किसी देश की नागरिकता दो प्रकार से निश्चित की जा सकती है—

1 जन्म जात नागरिकता (Natural born citizen)

2 राज्य प्रदत्त नागरिकता (Naturalised citizen)

पहले प्रकार के नागरिक ऐसे व्यक्ति कहलाते हैं जो जन्म से ही किसी राज्य के सदस्य होते हैं, और जिन्हें जन्म के कारण नागरिकता के अधिकारों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत राज्यदत्त नागरिक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो जन्म से उस देश के सदस्य नहीं होते परन्तु वयस्क होकर अपनी स्वेच्छा से राज्य की नागरिकता प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र देते हैं और आवश्यक शर्तों की पूर्ति होने पर उस राज्य की सरकार उन्हें नागरिकता का पद प्रदान कर देती है।

1 जन्मजात नागरिकता—जन्म द्वारा नागरिकता प्राप्त करने के दो मुख्य सिद्धान्त हैं—रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त (Jus Sanguinis) और जन्म स्थान का सिद्धान्त (Jus Soli)। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त जन्म स्थान के सिद्धान्त से प्राचीन है। प्राचीन काल में यूनान, रोम और ऐशियाई देशों में नागरिकता के निर्धारण के लिए इसी सिद्धान्त को अपनाया जाता था और इस प्रकार बच्चे को जन्म से ही उसके माता पिता की नागरिकता प्राप्त हो जाती थी। मध्यकाल में सामन्तशाही विचारधारा के प्रभाव के कारण जन्म से ही भूमि और व्यक्ति के सम्बन्ध पैदा हो जाते थे। इस विचारधारा के परिणामस्वरूप जन्म स्थान के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। यही सिद्धान्त आगे चलकर यूरोप के देशों में नागरिकता के निर्धारण का आधार बन गया।

(i) रक्त वंशाधिकार नियम—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता का निर्णय उसके माता पिता की नागरिकता से किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति का जन्म किसी दूसरे देश में हुआ और माता-पिता किसी दूसरे देश के नागरिक हैं तो व्यक्ति चाहे तो वह अपने माता पिता के देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ—यदि पिता फ्रांस का नागरिक है और उसकी सन्तान का जन्म यदि किसी दूसरे देश में भी हो जाता है तो वह सन्तान फ्रांस की नागरिक कहलायेगी।

(ii) जन्म स्थान के अनुसार इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बालक की नागरिकता उसके जन्म स्थान के आधार पर निश्चित की जाती है। यह नियम अर्जेन्टाइना में प्रचलित है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक बालक का जन्म जिस देश की भूमि पर होता है वह उसी देश का नागरिक समझा जाता है भले ही उसके माता पिता अन्य देश के क्यों न हों। उदाहरणार्थ यदि फ्रांस के नागरिक के बच्चे का जन्म ब्रिटेन में होता है या किसी ब्रिटिश जलयान में होता है तो वह बच्चा ब्रिटेन का ही नागरिक होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति पर किसी

दूसरे देश की नागरिकता जबरन थोपी जाती है। ऐसी थोपी हुई नागरिकता से देश भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

(iii) दोहरा नियम—दोहरा नियम का यह सिद्धान्त इंगलैंड अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में प्रचलित है। इसके अनुसार विश्व के किसी भी कोने में उत्पन्न सन्तान अपने माता पिता के देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार विदेशी माता पिता से उत्पन्न सन्तान अपने जन्म स्थान के आधार पर जिस देश में पैदा हुई है, उस देश की नागरिकता प्राप्त कर सकती है। इस नियम के अनुसार संसार के किसी भी देश में इंगलैंड के माता-पिता से यदि कोई सन्तान उत्पन्न होती है तो वह भी जन्म स्थान के कारण इंगलैंड की प्रजा है।

2 राज्यदत्त नागरिकता—राज्य द्वारा नागरिकता प्रदान करने के भिन्न भिन्न देशों में अलग-अलग नियम है। जिनको पूरा करने से किसी देश की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है।

(i) विवाह द्वारा—किसी स्त्री के विदेशी पति से विवाह करने पर उसे अपने पति के देश की नागरिकता मिल सकती है और वह अपने पति के देश के सभी नागरिक अधिकारों का उपभोग करने लगती है। उदाहरणार्थ, यदि एक फ्रांसीसी महिला किसी अंग्रेज से विवाह कर लेती है तो उसे इंगलैंड की नागरिकता मिल जाती है।

(ii) निश्चित अवधि तक निवास करने पर—कुछ देशों में नागरिकता निवास की लम्बी अवधि पर आधारित रहती है। इस नियम के अनुसार यदि कोई विदेशी उस देश के नियमानुसार एक निश्चित अवधि तक उस देश में रहता है तो उसे वहाँ की नागरिकता मिल सकती है। इंगलैंड व अमरिका में यह अवधि 5 वर्ष है। इटली में 4 वर्ष, स्वीडन में 3 वर्ष। अमेरिका में सैनिक का पद ग्रहण करने पर विदेशी एक साल रहने के बाद ही नागरिकता प्राप्त कर सकता है।

(iii) सम्पत्ति खरीदने पर—कुछ देशों में यह नियम भी प्रचलित है कि उस राज्य में सम्पत्ति खरीदने पर राज्य की नागरिकता प्रदान की जा सकती है। दक्षिणी अमेरिका के मैक्सिको राज्य में यह नियम प्रचलित है।

(iv) सरकारी नौकरी द्वारा यदि कोई व्यक्ति विदेश में किसी लाभ के पद पर काम कर रहा हो तो उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(v) गोद द्वारा—यदि एक राज्य का नागरिक किसी दूसरे राज्य के नागरिक को गोद ले ले तो गोद जाने वाला व्यक्ति गोद लेने वाले व्यक्ति के राज्य का नागरिक बन जाता है।

पहले प्रकार के नागरिक एसे व्यक्ति कहलाते हैं जो जन्म से ही किसी राज्य के सदस्य होते हैं, और जिन्हें जन्म के कारण नागरिकता के अधिकारों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत राज्यदत्त नागरिक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो जन्म से उस देश के सदस्य नहीं होते परन्तु व्यस्क होकर अपनी स्वेच्छा से राज्य की नागरिकता प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र देते हैं और आवश्यक शर्तों की पूर्ति होने पर उस राज्य की सरकार उन्हें नागरिकता का पद प्रदान कर देती है।

1 जन्मजात नागरिकता—जन्म द्वारा नागरिकता प्राप्त करने के भी दो मुख्य सिद्धान्त हैं—रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त (Jus Sanguinis) और जन्म स्थान का सिद्धान्त (Jus Soli)। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त जन्म स्थान के सिद्धान्त से प्राचीन है। प्राचीन काल में यूनान, रोम और ऐशियाई देशों में नागरिकता के निर्धारण के लिए इसी सिद्धान्त को अपनाया जाता था और इस प्रकार बच्चे को जन्म से ही उसके माता-पिता की नागरिकता प्राप्त हो जाती थी। मध्यकाल में सामन्तशाही विचारधारा के प्रभाव के कारण जन्म से ही भूमि और व्यक्ति के सम्बन्ध पैदा हो जाते थे। इस विचारधारा के परिणामस्वरूप जन्म स्थान के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। यही सिद्धान्त आगे चलकर यूरोप के देशों मे नागरिकता के निर्धारण का आधार बन गया।

(i) रक्त वंशाधिकार नियम—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता का निर्णय उसके माता पिता की नागरिकता से किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति का जन्म किसी दूसरे देश मे हुआ और माता-पिता किसी दूसरे देश के नागरिक हैं तो व्यक्ति चाहे तो वह अपने माता पिता के देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ—यदि पिता फ्रांस का नागरिक है और उसकी सन्तान का जन्म यदि किसी दूसरे देश मे भी हो जाता है तो वह सन्तान फ्रांस की नागरिक कहलायेगी।

(ii) जन्म स्थान के अनुसार इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बालक की नागरिकता उसके जन्म स्थान के आधार पर निश्चित की जाती है। यह नियम अर्जेनटाइना मे प्रचलित है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक बालक का जन्म जिस देश की भूमि पर होता है वह उसी देश का नागरिक समझा जाता है चाहे उसके माता पिता अन्य देश के क्यों न हो। उदाहरणार्थ, यदि फ्रांस के नागरिक के बच्चे का जन्म ब्रिटेन मे होता है या किसी ब्रिटिश जलयान मे होता है तो वह बच्चा ब्रिटेन का ही नागरिक होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति पर किसी

दूसरे देश की नागरिकता जबरन थोपी जाती है। ऐसी थोपी हुई नागरिकता से देश भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

(iii) दोहरा नियम—दोहरा नियम का यह सिद्धान्त इंगलैंड अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में प्रचलित है। इसके अनुसार विश्व के किसी भी कोने में उत्पन्न सन्तान अपने माता पिता के देश की नागरिकता प्राप्त कर सकती है। इसी प्रकार विदेशी माता पिता से उत्पन्न सन्तान अपने जन्म-स्थान के आधार पर जिस देश में पैदा हुई है, उस देश की नागरिकता प्राप्त कर सकती है। इस नियम के अनुसार संसार के किसी भी देश में इंगलैंड के माता-पिता से यदि कोई सन्तान उत्पन्न होती है तो वह भी जन्म स्थान के कारण इंगलैंड की प्रजा है।

2 राज्यदत्त नागरिकता—राज्य द्वारा नागरिकता प्रदान करने के भिन्न भिन्न देशों में अलग अलग नियम है। जिनको पूरा करने से किसी देश की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है।

(i) विवाह द्वारा—किसी स्त्री के विदेशी पति से विवाह करने पर उसे अपने पति के देश की नागरिकता मिल सकती है और वह अपने पति के देश के सभी नागरिक अधिकारों का उपभोग करने लगती है। उदाहरणार्थ, यदि एक फ्रांसीसी महिला किसी अंग्रेज से विवाह कर लेती है तो उसे इंगलैंड की नागरिकता मिल जाती है।

(ii) निश्चित अवधि तक निवास करने पर—कुछ देशों में नागरिकता निवास की लम्बी अवधि पर आधारित रहती है। इस नियम के अनुसार यदि कोई विदेशी उस देश के नियमानुसार एक निश्चित अवधि तक उस देश में रहता है तो उसे वहाँ की नागरिकता मिल सकती है। इंगलैंड व अमेरिका में यह अवधि 5 वर्ष है। इटली में 4 वर्ष, स्वीडन में 3 वर्ष। अमरिका में सैनिक का पद ग्रहण करने पर विदेशी एक साल रहने के बाद ही नागरिकता प्राप्त कर सकता है।

(iii) सम्पत्ति खरीदने पर—कुछ देशों में यह नियम भी प्रचलित है कि उस राज्य में सम्पत्ति खरीदने पर राज्य की नागरिकता प्रदान की जा सकती है। दक्षिणी अमेरिका के मक्सिको राज्य में यह नियम प्रचलित है।

(iv) सरकारी नौकरी द्वारा यदि कोई व्यक्ति विदेश में किसी लाभ के पद पर काम कर रहा हो तो उसे वहां की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(v) गोद द्वारा—यदि एक राज्य का नागरिक किसी दूसरे राज्य के नागरिक को गोद ले ले तो गोद जाने वाला व्यक्ति गोद लेने वाले व्यक्ति के राज्य का नागरिक बन जाता है।

(vi) विजय द्वारा—जब कोई राज्य किसी राज्य को या उसके किसी भाग को जीत कर अपने राष्ट्र में शामिल कर लेता है, तो विजयी राष्ट्र की नागरिकता ही पराजित राष्ट्र के नागरिकों को प्राप्त होती है।

(vii) पुन नागरिकता प्राप्त—राज्यच्युत नागरिक यदि अपने देश की नागरिकता फिर से प्राप्त करना चाहें तो कुछ शर्तें पूरी करने पर उन्हें पुन वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो सकती है।

नागरिकता का अपहरण (Loss of Citizenship)—

जिस प्रकार नागरिकता प्राप्त की जा सकती है उसी प्रकार एक देश के नागरिकों की नागरिकता का लोप भी निम्न कारणों से हो सकता है—

(1) देश द्रोह से—जब तक कोई नागरिक अपने राष्ट्र के प्रति सभी उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता है और राजभक्त बना रहता है, तब तक उसे नागरिकता के अधिकार प्राप्त रहते है, परन्तु यदि वह राजभक्ति छोड़ देता है या अपने देश के हितों के विरुद्ध कार्य करता है तो उससे नागरिकता छीनली जाती है।

(2) भीषण अपराधों से—सेना से भाग सिपाही तथा अन्य प्रकार के गम्भीर अपराधों के कारण भी नागरिकता छीन ली जाती है।

(3) निश्चित अवधि तक विदेशों में रहने पर—अनेक देशों का यह नियम है कि यदि कोई व्यक्ति निश्चित अवधि से अधिक समय तक अपने देश से बाहर रहता है तो उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(4) स्वेच्छा से नागरिकता छोड देने से—यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से दूसरे देश की नागरिकता स्वीकार कर लेता है तो पहले देश की नागरिकता स्वत ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक साथ दो देशों का नागरिक नहीं बन सकता।

(5) नौकरी से निकाल दिए जाने पर—जो व्यक्ति विदेश में नौकरी करके उस देश के नागरिक बन जाते है जब वे वहा की नौकरी से निकाल दिये जाते हैं तो उस देश की नागरिकता खो देते हैं।

(6) स्त्री द्वारा विदेशी से शादी करने पर—यदि एक स्त्री किसी अन्य विदेशी से विवाह कर लेती है, और अपने पति के देश की नागरिकता ग्रहण कर लेती है तो उसकी अपनी जन्म की नागरिकता का अन्त हो जाता है। किन्तु रूस में स्त्रियों के विवाह करने के बाद ही वहा भी नागरिकता प्राप्त रहती है।

इस प्रकार प्रत्येक नागरिक के लिए किसी भी देश की नागरिकता प्राप्त करना आवश्यक है। बिना नागरिकता के उसके हितों की सुरक्षा किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। नागरिक का सर्वांगीण विकास राज्य के संरक्षण के बिना सम्भव नहीं होता है।

भारतीय नागरिकता—भारत के नागरिक वे कहलाने का अधिकार रखते हैं जो भारत की भूमि में पैदा हुए हों। वे लोग भी भारत के नागरिक होते हैं, जिनके माता पिता में से कोई एक भारत की भूमि में पैदा हुआ हो तथा वे लोग भी भारत के नागरिक होने का दावा कर सकते हैं जो भारतीय संविधान घोषित होने के 5 वर्ष पूर्व से ही भारत के निवासी रहे हों।

भारतीय नागरिकता का कानून भारतीय संविधान के अनुच्छेद 5 से 11 में दिया हुआ है। हमारे देश की नागरिकता का कानून उन भारतीयों के प्रति भी उदासीन नहीं है जो विदेशों में रह रहे हैं। वे भारत के नागरिक बन सकते है, यदि वे स्वयं अथवा उनके मां, बाप या दादा, दादी में से कोई एक अविभाजित भारत में पैदा हुआ हो, तथा जिस देश में वे रहते हों, वहां स्थित भारतीय राजदूत के कार्यालय में उन्होंने अपनी रजिस्ट्री करवा ली हो,इस प्रकार भारत में नागरिकता प्रदान करने का कानून अत्यन्त उदार है। भारत में नागरिकता जाति-भेद, रंगभेद तथा रक्तभेद जैसे आधारों पर आधारित नहीं है।

आदर्श नागरिकता (The Ideal Citizenship)—आदर्श नागरिकता व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय उन्नति की कुंजी है और यह प्रजातन्त्र की सफलता का महत्वपूर्ण आधार भी है। आदर्श नागरिक ही आदर्श नागरिकता का प्रतीक है। आदर्श नागरिक वही है जो सतर्कता से अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों का पालन सद्इच्छा, उत्साह और लगन से अपनी योग्यतानुसार कर सके। समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझने और लोकहित के प्रति निष्ठा तथा साधन की प्रवृत्ति से इस उत्तरदायित्व को सम्भालने में ही आदर्श नागरिकता का सार निहित है। आदर्श नागरिकता का आधार लोकहित के प्रति श्रद्धा तथा आदर्श की पूर्ति के लिए अपना जीवन अर्पित कर देना ही नागरिकता का सार है। केवल राज्य के कानूनों का पालन करने और अन्य व्यक्तियों के अधिकारों के प्रयोग में हस्तक्षेप न करने और अन्य व्यक्तियों के अधिकारों के प्रयोग में हस्तक्षेप न करने का नाम ही आदर्श नागरिकता नहीं, बल्कि सभ्यता के विकास और सम्पूर्ण समाज के हित की वृद्धि के लिए अपना तन मन धन न्योछावर करना ही आदर्श नागरिकता है। इंगलैंड के प्रसिद्ध विचारक लास्की

ने आदर्श नागरिकता का बोध कराते हुए लिखा है कि "नागरिकता मानव के शिक्षित निर्णय का जनकल्याण में प्रयोग है"।

आदर्श नागरिक के गुण—कोई भी व्यक्ति आदर्श नागरिक तब ही कहला सकता है जबकि वह समाज के हित से ऊपर कुछ भी न समझें। अपने सभी स्वार्थों का समाज की उन्नति और विकास के लिए त्याग करदे। आदर्श नागरिकता का अर्थ होता है किसी व्यक्ति में अपने राष्ट्र एवं समाज की सेवा करने की कितनी क्षमता है। लाडब्राइस ने अच्छे नागरिक के तीन लक्षण बताये है— बुद्धिमत्ता, आत्मनियन्त्रण और विवेक।' डा. व्हाइट ने बताया है कि साधारण बुद्धि, ज्ञान और निष्ठा' एक नागरिक के बुनियादी लक्षण होने चाहिये। हमारे शास्त्रों में भी आदर्श नागरिक के तीन प्रधान गुण बतलाये गये हैं— सत्य, शिवम् तथा सुन्दरम्। इन गुणों के अभाव में कोई भी व्यक्ति आदर्श नागरिक कहलाने की क्षमता नही रखता है।

(1) **कर्त्तव्य पालन और व्यवस्था कुशलता**—एक आदर्श नागरिक के लिए अपने कर्त्तव्यों को समझना और उनका पालन करना अनिवार्य है। कर्त्तव्य पालन और व्यवहार कुशलता ही व्यक्ति को अन्य साधारण व्यक्तियों की श्रेणी से निकाल कर अच्छे नागरिक की श्रेणी में लाकर खड़ा करते हैं। अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान आदर्श नागरिकता के व्यावहारिक स्वरूप की भूमिका है। आदर्श नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारों का सदुपयोग करें एवं अपने कर्त्तव्यों को ईमानदारी व वफादारी से निभाए। मनुष्य को परिवार के हित के लिए अपना, नगर के लिए परिवार का, देश के लिए नगर का और मानव समाज के लिए राष्ट्र का बलिदान करने के लिए सदा कटिबद्ध रहे। यही आदर्श नागरिकता का सर्वोपरि लक्ष्य है।

(2) **संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता व जातीयता में विरोध**—आदर्श नागरिक को संकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीय व जातीय भावनाओं से दूर रह कर सत्य, शिव, सुन्दरम् की भावना से ओत प्रोत रहना चाहिए। सत्य आचरण कल्याण भावना एवं सुन्दर कर्म के तीनों गुण आदर्श नागरिकता की जड़ है।

(3) **आत्मनिर्भरता एवं आत्म विश्वास**—आदर्श नागरिक साहस और निर्भिकता से अपने विचारों को प्रकट करता है, और निन्दा या अत्याचार के भय से प्रभावित होकर अपने विचारों का परित्याग नहीं करता। आदर्श

नागरिक वही है जो स्वावलम्बी हो। पराश्रित व्यक्ति श्रेष्ठ नागरिक नही कहा जा सकता। एक आदर्श नागरिक अपने चरित्र और अपनी आत्मा पर अनुशासन रखता है, तथा सार्वजनिक कार्यों के आत्मविश्वास से कार्य कर लेता हैं। उसमे विश्वास की दृढता और विचारो की स्थिरता होती है। वह आत्मनिर्भर, न्यायप्रिय, तथा त्यागी होता है। वह कर्मयोगी होता है। कार्लाइल के शब्दो मे "कर्म ही उसका धर्म होता है"[1]

टगोर के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "उसमे विश्वास होता है कि जीवन का धन ससार के प्रति कर्त्तव्य पालन द्वारा और उसका मूल्य स्नेह पर अविलम्ब अधिकार द्वारा प्राप्त होता है।"[2]

(4) विचारशील एव दूरदर्शिता एक आदर्श नागरिक को आवेश मे आकर भावनाओ मे नही बहकना चाहिये बल्कि दूरदर्शिता से काम लेना चाहिये। भावनाओ के आवेश मे आकर कार्य करने से समाज को बडी ठेस लगती है। जिस प्रकार भारत के विभाजन के पश्चात् आवेश मे आकर भारतीय नागरिको ने जिस हिंसा, साम्प्रदायिकता और चरित्रहीनता का परिचय दिया उसे भुलाया नही जा सकता। भावनाओ मे बह जाने से चाहे व्यक्ति को क्षणिक लाभ प्राप्त हो जाय, परन्तु भविष्य मे वह हानिकारक ही होता है। अच्छे नागरिक मे सयम, विवेक और दूरदर्शिता होनी चाहिए। इन गुणो के अभाव मे एक व्यक्ति आदर्श नागरिक नही बन सकता।

(5) सेवा भावना सहयोग एव परोपकारिता—लोकहित की भावना से प्रेरित होकर उन्नतिशील समाजसेवा का निर्माण करना ही व्यक्ति का प्रमुख कर्त्तव्य है। जिस व्यक्ति ने समाज सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य मान लिया हो वही समाज की सेवा सच्चे अर्थों मे कर सकता है। एक श्रेष्ठ नागरिक सरकारी सम्पत्ति की रक्षा करता है, सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेता है पारस्परिक सहयोग तथा सहायता को तत्पर रहता है, निष्पक्षता तथा दूसरे के अधिकारो की रक्षा को उद्यत रहता है और असहाय तथा अनाथो की तन, मन, धन से सहायता करता है। यह सत्य है कि अच्छे कार्य को करने मे व्यक्ति के समक्ष कुछ बाधाये होती है और

---

1 Work is worship —Carlyle

2 Life finds its wealth by the claims of the World and its worth by the claims of love —Tagore

यदि व्यक्ति अपने आत्मविश्वास और सिद्धान्तों मे विश्वास के आधार पर उन बाधाओं से नही डरता तब उसकी सफलता निश्चित ही होती है।

(6) दैनिक जीवन मे व्यवहार कुशलता—व्यक्तिगत दैनिक जीवन मे अच्छा व्यवहार और अच्छी आदतें भी अच्छे नागरिक जीवन के लिये अति आवश्यक है। नित्य प्रतिदिन के उत्तम व्यवहार पर ही मनुष्य का भविष्य और वर्तमान जीवन का सुख निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त आदर्श व्यक्ति को अपनी आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने के लिये मितव्ययी भी होना चाहिये।

(7) कानून का पालन और मताधिकार का उचित उपयोग—एक आदर्श नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारों का सदुपयोग करे एवं अपने कर्त्तव्यों को ईमानदारी तथा वफादारी से निभाए। वह ईमानदारी से मतदान मे हाथ बटाए, करों को अदा करे, और अनुचित तथा संविधान विरोधी कार्यों का विरोध करने को तत्पर रहे। अधिकार और कर्त्तव्यों का पालन करना ही आदर्श नागरिकता का महत्वपूर्ण गुण है।

जब तक नागरिक मे उपरोक्त गुणों का अभाव होगा तब तक कोई भी व्यक्ति आदर्श नागरिक कहलाने का अधिकारी नहीं है। आदर्श नागरिकता ही व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की कुंजी है। इसके अभाव मे जीवन निरर्थक है और नागरिकता निर्मूल।

आदर्श नागरिकता के मार्ग मे बाधाएं
(Hindrances to ideal Citizenship)—

यद्यपि आदर्श नागरिकता व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए हितकर है, फिर भी आदर्श नागरिक बहुत कम पाये जाते हैं। सामाजिक कुव्यवस्थाएं तथा मनुष्य की दुर्बलताएं आदर्श नागरिक बनने मे बड़ी बाधक सिद्ध होती हैं।

(1) नैतिक बाधाएं—आदर्श नागरिकता के मार्ग में सबसे प्रमुख बाधाएं नैतिक हैं। जिनमे व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता तथा ईमानदारी का अभाव प्रमुख है। व्यक्तिगत स्वार्थ ही भ्रष्टाचार का आधार होता है। स्वार्थी व्यक्ति सदैव ही अपना हित चाहता है और यदि उसे अपनी भावना को साकार बनाने मे राष्ट्र हित का भी बलिदान करना पड़े तो भी वह नही हिचकिचाता। वह अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए समाज और देश को भी बेच सकता है। स्वार्थी मनुष्य का अन्तःकरण मर जाता है, उसकी सेवा भावना समाप्त हो जाती है तथा वह नैतिकता से वंचित हो जाता है। बेईमान व्यक्ति कर्तव्य के प्रति श्रद्धा नही रख सकता और उचित अनुचित का महत्व

नही समझता । अतः बेईमान व्यक्ति उस उसर भूमि के समान है जिसमे आदर्श नागरिकता के बीज कभी फल नहीं सकते ।

(2) मानसिक बाधाए —आदर्श नागरिकता की भावना के विकास म सबसे बडी बाधाए अज्ञानता और अशिक्षा का फल है । शिक्षा ही सच्चे अर्थों मे मनुष्य को बनाती है । अज्ञानी पुरुष अधे आदमी के समान होते हैं । जिसको कहीं भी जाने में दूसरे आदमी की सहायता की आवश्यकता होती है । उसकी उपमा उस मूक पशु से दी जाती है, जिसको हाँक कर कहीं भी ले जाया जा सकता है । ऐसा व्यक्ति आदर्श नागरिकता के योग्य नहीं हो सकता । ज्ञान, स्फूर्ति और विवेक ही आदर्श नागरिकता के मूल आधार होते हैं । शिक्षा के बिना नागरिक न तो अपने ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है, और न अपने राष्ट्र की समृद्धि में ही सहायक हो सकता है ।

(3) आर्थिक बाधाए —आदर्श नागरिकता के मार्ग मे महत्वपूर्ण रुकावट आर्थिक है, जिनका व्यवहारिक रूप गरीबी कहलाता है । दरिद्रता ही समाज के लिए अभिशाप है । गरीबी एक ऐसी समस्या है जो मानव को मकडी की भाति जाल म फसा लेती है । गरीब व्यक्ति अपनी आर्थिक समस्याओ म ऐसा उलझा हुआ रहता है कि वह समाजिक समस्याओ की ओर ध्यान ही नहीं दे पाता, और न ही यह सोच पाता कि उन समस्याओ को सुलझाने के प्रति उसका कर्तव्य क्या है ? गरीब की नतिकता रोटी के टुकडो में ही निहित होती है । यही नही गरीबी अपराधो की भी जननी रही है । गरीबी के कारण ही व्यक्ति चोरी, डकैती, हत्या तथा अमानुषिक काय करने पर विवश हो जाता है । शास्त्रो ने उचित ही कहा गया है कि, "बुभुक्षतो किम न करोति पापम् । गरीबी के कारण ही व्यक्ति के हृदय मे जीवन के प्रति अपेक्षा की प्रवृति जाग्रत होती है । वह आत्मविश्वास खो बैठता है, अकमण्यता उसका स्वभाव बन जाती है । इस प्रकार जिस देश म गरीबी का वास रहता है, वहां नागरिकता का आगमन कदापि नहीं हो सकता ।

(4) सामाजिक बाधाएँ—समाज म व्यक्ति के साथ वर्ण, रक्त, जाति तथा धर्म के आधार पर भेदभाव किया जाता है । योग्यता होते हुए भी उसे अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर ही नही मिलता । हमारे देश की छूआछूत, दहज प्रथा आदि सामाजिक बाधाएँ हैं, जिनके कारण व्यक्ति निष्ठापूवक कर्तव्यपालन नहीं कर पाता है । धार्मिक कट्टरता एव साम्प्रदायिकता के भयकर परिणाम होते हैं, इससे ईर्ष्या, द्वेष, असहयोग, असहिष्णुता आदि दुर्गुणों का जन्म होता है, जिससे समाज म अशान्ति तथा दु ख फलता है ।

(5) राजनैतिक बाधाएं—राजनैतिक दलों की व्यवस्था अपने विकृत स्वरूप में आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधा बन जाती है। यद्यपि प्रजातन्त्र के कुशल संचालन के लिए राजनैतिक दल जनमत का वास्तविक निर्माण किया करते हैं, नागरिकों में राजनैतिक चेतना का उदय तथा प्रसार करते हैं। यदि राजनैतिक दल शुद्धता के साथ कार्य करें तो प्रजातन्त्र राज्य की सफलता अवश्यम्भावी हो जाती है। प्रायः राजनैतिक दलबंदी, सामाजिक कल्याण का साधन न होकर सदस्यों की स्वार्थ पूर्ति का साधन बन जाती है। दलबंदी की संकीर्ण भावना राजनैतिक व सामाजिक वातावरण को स्वार्थमय, भ्रष्ट तथा विषैला बना देती है। दलबन्दी से संघर्ष का जन्म होता है, स्वार्थ को बल मिलता है, समाज सेवा की भावना नष्ट हो जाती है।

राजनैतिक बाधा उग्र राष्ट्रवाद, पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद को पनपने देती है। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और राष्ट्रवाद तीनों ही आदर्श नागरिकता के घोर शत्रु हैं। जब तक तीनों महादानवों से छुटकारा नहीं मिल जाता तब तक अविकसित देशों में आदर्श नागरिकता का विकास नहीं हो सकता। उग्रराष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद जो एक ही विष के प्याले के भिन्न भिन्न घूंट हैं स्वयं ही उन देशों में आदर्श नागरिकता को नहीं पनपने देते जहां ये अपनाये गये हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद आदर्श नागरिकता के मार्ग में भारी रुकावटें हैं।

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निवारण—आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने के साधनों के विषय में सोचना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। आदर्श नागरिकता के मार्ग की सब बाधाओं का स्त्रोत व्यक्ति का कर्त्तव्य पालन के प्रति निरुत्साह अपने साथियों के प्रति उपेक्षा भाव तथा उनमें सेवा और त्याग के आदर्श का अभाव है। बालकों को देश प्रेम, सेवा, भक्ति, श्रद्धा तथा त्याग के गीत सुनाकर जीवन में उन्हें प्रवर्तित किया जा सकता है। अध्यापकों को अपने शिष्यों को केवल विषय वस्तु के अध्ययन के साथ साथ नैतिकता का अध्ययन भी करवाना आवश्यक है। जिससे विद्यार्थियों में अनुशासन, आत्मविश्वास आत्म-निर्भरता, सहयोग एवं सौहार्द्र की भावना जागृत हो सके।

राजनैतिक दलों को दलबन्दी तथा संकीर्ण स्वार्थों से परे रहकर समाज एवं राष्ट्र सेवा की दृष्टि से कार्य करना चाहिए। उन्हें चाहिये कि वे नागरिकों को साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता के सीमित बन्धनों से ऊपर उठाकर उन्हें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं की ओर प्रवृत्त करें। चुनाव की व्यवस्था इस प्रकार होनी

चाहिए कि दलबन्दी [illegible] तथा मत देने वाले [illegible]
राज्य की तरफ से उचित और [illegible] [illegible]
चाहिए। राज्य का [illegible] [illegible]
करना चाहिए। [illegible] न्याय और लोकतन्त्र के आधार पर [illegible]
दिये जाने चाहिए। [illegible] प्रान्तीय तथा स्थानीय [illegible]
निश्चित होना चाहिए, ताकि अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की जा सके। [illegible]
नौकरी सम्बन्धी नियम [illegible] होने चाहिए ताकि कर्मचारी [illegible]
प्रति सचेत रहें और अपने पदों का दुरुपयोग न कर सकें। [illegible]
को भाषण, विचार तथा आलोचना की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए। [illegible]
आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

भारतीय नागरिकता की प्रवृत्ति—हमारे यहाँ सम्पूर्ण भारत को केवल एक ही नागरिकता है। इस भारतीय नागरिकता [illegible] संविधानों में दो नागरिकताएँ प्राप्त होती हैं—एक तो राज्य की नागरिकता और दूसरी संघ नागरिकता। नागरिकता कुछ अधिकारों, हितों तथा दायित्वों की ओर संकेत करती है।

नागरिकता का उद्देश्य है कि नागरिकों को [illegible] पद पर नियुक्त होने का अधिकार [illegible] देने का दायित्व प्राप्त हो। [illegible] राज्य के लिये विशेष होता है। भारत में [illegible] रिकों के अधिकार हित तथा [illegible] रिकता का सिद्धान्त [illegible] की प्रवृत्ति [illegible] के ध्येय से किया गया है। नागरिक [illegible] सभी व्यक्ति, जो एक स्थान पर [illegible] के सभी निवासी [illegible] विशेषी भी।

संविधान में नागरिकता [illegible] गया है। उसका एक भाग [illegible] संविधान के लागू [illegible] जिसने [illegible] करने तथा उसकी [illegible] निर्णय करने का [illegible]

रिकता के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन नहीं करता। इसी कमी को पूरा करने के लिये बाद में 'भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955' (Indian Citizenship Act, 1955) को पास किया गया।

कौन लोग भारतीय नागरिक होते हैं—वर्तमान विधि के अधीन निम्नलिखित चार प्रकार के नागरिकों का उल्लेख है—

(1) वह व्यक्ति जो संविधान के लागू होते समय, निम्नलिखित शर्तों को पूरा करता है—(i) वह जो भारत का अधिवासी हो और (ii) वह जो भारत में पैदा हुआ अथवा उसके माता-पिता में से कोई भी एक भारत में पैदा हुआ हो अथवा वह जो संविधान लागू होने से अव्यवहित (Immediately preceding) पूर्व पाँच वर्षों से सामान्य रूप से भारत में रह रहा हो। (देखिये अनुच्छेद 5)।

(2) वह व्यक्ति, जिसने पाकिस्तान से भारत में प्रव्रजन (migrate) किया हो और वह अथवा उसके माता-पिता अथवा पितामह-मातामह में से एक अविभाजित भारत में पैदा हुए हो तथा यदि उस व्यक्ति ने 19 जुलाई, 1948 से पूर्व प्रव्रजन किया है तो संविधान के लागू होने पर भारत का नागरिक समझा जाएगा। किन्तु यह तभी होगा जबकि वह व्यक्ति प्रव्रजन के बाद से लगातार भारत में निवास कर रहा हो। यदि ऐसा कोई व्यक्ति 19 जुलाई 1948 के पश्चात् प्रव्रजन करता है तो उसके लिये यह आवश्यक होगा कि वह भारत सरकार द्वारा नियुक्त एक पदाधिकारी के समक्ष प्रार्थनापत्र देकर नागरिक के रूप में संविधान के लागू होने के पूर्व पञ्जीकृत (Registered) हो गया हो। ऐसा कोई व्यक्ति पंजीकृत नागरिक न हो सकेगा जोकि प्रार्थनापत्र के अव्यवहित पूर्व 6 महीने से लगातार भारत में निवास न कर रहा हो। (देखिये अनुच्छेद 6)

(3) 1 मार्च 1947 के पश्चात् कोई पाकिस्तान को उत्प्रवजन (Emigrant) करने वाला व्यक्ति जोकि वहाँ से वैध अनुज्ञा (Permit) के साथ पुनः भारत में वापस होकर यहाँ स्थायी रूप से रहने के उद्देश्य से आ जाय, उसे 19 जुलाई, 1948 के पश्चात् पाकिस्तान से उत्प्रवजन करने वाले व्यक्ति को समस्त शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। (देखिये अनुच्छेद 7)

(4) कोई ऐसा व्यक्ति जो भारत से बाहर निवास करता हो और वह निम्नलिखित दोनों शर्तों को पूरा करता हो—

(i) वह अथवा उसके माता पिता में से कोई अविभाजित भारत म पैदा हुए हो तथा (ii) वह उस देश म स्थित भारत के दूतावास म प्रार्थनापत्र देकर अपने आपको भारतीय नागरिक के रूप मे पंजीकृत करा लिये हो। (अनुच्छेद 8)

कोई ऐसा नागरिक जिसने स्वेच्छा से किसी दूसर राज्य की नागरिकता स्वीकार कर ली हो उपर्युक्त उपबन्धो के लागू होने के बावजूद भी वह भारतीय नागरिक नही माना जायगा। (देखिये अनुच्छेद 9)

संविधान के अनुच्छेद 10 तथा 11 में नागरिकता के बने रहने का उपबन्ध तथा नागरिकता सम्बन्धी उपबन्धो पर भारतीय ससद के प्रभुत्व का वर्णन किया गया है। वस्तुत नागरिकता सम्बन्धी मामलो म भारतीय ससद को पूर्ण एकाधिकार प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 10 इस प्रकार उपबन्धित करता है कि— प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जोकि इस भाग के उपर्युक्त उपबन्धो मे से किसी के अनुसार भारत का नागरिक माना गया है वह इस प्रकार का नागरिक निरन्तर माना जायगा, जब तक कि इस प्रसग में भारतीय ससद् के किसी विधि द्वारा कोई विरोधी नियम उपबन्धित न हो। अनुच्छेद 11 के द्वारा भारतीय ससद को नागरिकता के सम्बन्ध मे अधिनियम बनाने, पुराने अधिनियमो को निरसित करने, नागरिकता प्राप्ति, समाप्ति, बनी रहने, विलुप्ति आदि के सम्बन्ध म अबाध शक्तियाँ प्रदान की गई है। ससद् के इस अधिकार को उपर्युक्त समस्त उपबन्ध चुनौती नही दे सकेंगे।

भारतीय नागरिकता अधिनियम—1955—यह अधिनियम संविधान के लागू होने के पश्चात्, जन्म से, वशानुक्रम से, पंजीकरण स स्वाभाविकता से तथा राज्य क्षेत्र के सम्मिलित होने से, नागरिकता प्राप्त करने के नियमों का बनाता है।

यह अधिनियम कुछ दशाओं मे, नागरिकता से निवृत्ति एव वंचित करने के सम्बन्ध मे भी नियमो को बनाता है।

यह अधिनियम समधिराज्य (Commonwealth) की नागरिकता को स्वीकार करता है तथा केन्द्रीय सरकार को पारस्परिक आधार पर भारतीय नागरिक को व सभी अधिकार प्रदान करने की छूट देता है जोकि अन्य समधिराज्य के नागरिक को प्राप्त हो।

व्यवस्थापिका
(Legislature)

6

"सरकार से तात्पर्य उन सब व्यक्तियो, संस्थाओं और साधनो से होता है, जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है, तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।"—सौल्गाऊ

राज्य के उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सरकार एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। शासन के सगठन में सरकार के मुख्य कार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुख्य तीन अग होते हैं। व्यवस्थापिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) और न्यायपालिका (Judiciary)। व्यवस्थापिका देश के लिए कानून बनाने का काय करती है। कार्यपालिका उन कानूनो को व्यवहार मे लागू करती हैं और न्यायपालिका कानूनो के अर्थ की पूर्ण रूप से व्याख्या करती है। यदि इनका कोई व्यक्ति उल्लघन करता है तो उसे दण्ड दिलवाने का काय भी करती है। अत सरकार के अगो मे (विशेषकर लोकतन्त्रीय देशो में) विधायिका (Legislature) या व्यवस्थापिका का सबके अधिक गौरव का स्थान दिया गया है।

व्यवस्थापिका आधुनिक प्रजातन्त्र मे प्रतिनिधि सभा के रूप मे—
(Legislature Its role as Representative body in Modern Democracies)—सरकार के तीनो अगों मे सबसे महत्वपूर्ण व्यवस्थापिका होती है। यह सरकार का वह अग है जो राज्य की इच्छाओ को कानून का रूप देता है। तुलनात्मक दृष्टि से कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनो से व्यवस्थापिका का महत्व अधिक है। यह विभाग ही उन कानूनो व विधियो का निर्माण करता है, जिसके अनुसार कार्यपालिका देश का शासन करती है। न्याय विभाग न्याय करता है। व्यवस्थापिका का महत्त्व किसी देश मे प्रचलित शासन के प्रकार पर निर्भर करता है। यदि कही निरकुश राजा का शासन है तो वहाँ की व्यवस्थापिका शासन के हाथ कठपुतली मात्र ही हो सकती है। जिन स्थानों पर अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित हो वहाँ पर व्यवस्थापिका की शक्तियाँ और उसके काय मर्यादित होते हैं।

सनदीय शासन प्रणाली के अन्तगत व्यवस्थापिका का कायपालिका पर प्रत्यक्ष रूप स नियन्त्रण होता है और मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। ऐसी शासन प्रणाली मे व्यवस्थापिका का स्थान सरकार के उन सब विभागो म सबस उच्च होता है। व्यवस्थापिका का महत्व उसके कार्यों म निहित है। इसका मूलकाय विधि निर्माण ही है। किन्तु विभिन्न देशो म समय, आवश्यकता और परिस्थितियो के कारण उनके अनेक अन्य काय भी होते है।

व्यवस्थापिका के काय (Functions of the Legislature)

(1) **विधायी काय**—व्यवस्थापिका समाज म शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यकता और परिस्थितियो के अनुसार कानून का निर्माण करती है उनम सशोधन करती है तथा उन्हे खण्डित भी कर सकती है। विधि निर्माण के काय म व्यवस्थापिका द्वारा सगठित विभिन्न समितियाँ अपनी विशेष *जानकारी, योग्यता और क्षमता के कारण* उसे सहायता देती रहती है, इस प्रकार विधि निर्माण के कायभार एव जटिलता को कम कर देती है। प्रत्येक प्रजातान्त्रिक देश म कानून का मूल स्रोत सविधान ही होता है। किन्तु व्यवहार म सभी कानून व्यवस्थापिका द्वारा तैयार किये जाते हैं। जिन देशो म सविधान की सर्वोच्चता और कठोरता पाई जाती है वहा व्यवस्थापिका सविधान के निर्देशों, नियमो और नियन्त्रण म रहकर विधि निर्माण का काय करती है। अत कानून निर्माण का प्रत्यक्ष स्रोत व्यवस्थापिका ही होती है।

(2) **वित्तीय कार्य**—मेडिसिन ने कहा है *'कि जिनके पास वित्तीय* शक्ति है उनके पास शासन करने की वास्तविक शक्तियां रहती हैं।' प्रजातान्त्रिक देशो म वित्तीय शक्ति अन्तिम रूप मे व्यवस्थापिका के निम्न सदन को सौंपी गई है। शासन का यह नियम होता है कि व्यवस्थापिका के निम्न सदन की स्वीकृति के बिना धन या व्यय नहीं किया जा सकता। आधुनिक व्यवस्थापिका द्वारा राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। व्यवस्थापिका ही नवीन कर लगान का काय करती है, और अनावश्यक कर को हटा भी सकती है। वित्तीय नियन्त्रण के माध्यम से व्यवस्थापिका कायपालिका के कार्यों पर आर्थिक [illegible] और कायपालिका पर भी नियन्त्रण रखती है। [illegible] कायपालिका [illegible] काय के लिए विशेषकर धन प्राप्त करने के लिए [illegible] व्यवस्थापिका [illegible] से निभर रहती है। कायपालिका बिना [illegible] की पूर्व स्वीकृति [illegible] स्वीकृत राजस्व न अधिनियम [illegible] नहीं कर सकती है।

(3) **प्रशासन सम्बन्धी काय**—व्यवस्थापन विभाग यद्यपि किसी भी प्रशासनिक मामलो म सीधा हस्तक्षेप नही करता है, तथापि देश के प्रशासन पर उसका महत्वपूर्ण नियत्रण रहता है। जहा ससदीय शासन प्रणाली विद्यमान है वहा पर व्यवस्थापिका कायपालिका के कार्यों पर प्रत्यक्ष रूप स नियत्रण रखती है। मन्त्रिमण्डल केवल तभी तक अपने पदो पर स्थायी रह सकते हैं, जब तक उन्ह व्यवस्थापिका का पूर्ण रूप से विश्वास प्राप्त हो। व्यवस्थापिका ही काय-पालिका के कार्यों का नियन्त्रण-प्रश्नो, स्थगन प्रस्तावो, अविश्वास अथवा निन्दा के प्रस्तावो जसी विधियो से करती है, इस प्रकार व्यवस्थापिका कायपालिका को लोकमत के अनुसार चलने पर बाध्य करती रहती है।

(4) **न्यायिक कार्य**—विभिन्न देशो म व्यवस्थापिकाए न्याय सम्बन्धी काय भी किया करती है। उदाहरणाय—इगलड मे लाड सभा, फ्रास की काउन्सिल ऑफ रिपब्लिक (Council of the Republic) न्यायालय का काय करती है, उस समय वहा के राष्ट्रपति पर महाभियोग (Impeachment) चलाया जा रहा हो। इसी प्रकार अमेरिका मे भी राष्टपति पर लगाये गये महाभियोग का निणय सिनेट ही करती है। भारतीय गणराज्य के सविधान म भी यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति पर लगाये गये महाभियोग का निणय ससद द्वारा होना चाहिये। अत व्यवस्थापिकाए प्रशासकीय विभागो के लिए न्यायिक अधिकारो का उपयोग करती है।

(5) **निर्वाचन सम्बन्धी काय**—विभिन्न देशो की व्यवस्थापिकाए निर्वाचन सम्बन्धी काय भी किया करती है। उदाहरणाथ फ्रास के दोनो सदन मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करते है। स्विटजरलैंड म वहा की पार्लियामट मन्त्रिपरिषद न्यायाधीशो तथा प्रधान सेनापति का चुनाव करती है। भारतीय ससद उपराष्ट्रपति का चुनाव करती है राष्ट्रपति का चुनाव ससद तथा राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्यो द्वारा किया जाता है। अमेरिका म सिनेट और प्रतिनिधि सभा को अपने अपने निर्वाचनो के निर्वाचन सम्बन्धी योग्यताओ का निणय करने का अधिकार दिया है।

(6) **सशोधन सम्बन्धी काय**—व्यवस्थापिका का सबस महत्वपूर्ण अधिकार सविधान म सशोधन करने का है। सशोधन का यह अधिकार कुछ देशो म आशिक होता है तो कुछ देशो म पूर्ण रूप से। ब्रिटिश ससद साधारण बहुमत स ही सविधान म मनचाहा परिवतन करा सकती है। भारतीय ससद कुछ विषयो मे अकेली सशोधन कर सकती है। स्विजटरलड म सशोधन सबधी

प्रस्तावो के लिए केंटना की स्वीकृति की आवश्यकता रहती है। भारत म ससद न मौलिक अधिकारो म भी सशोधन का अधिकार ग्रहण कर लिया है। सोवियत रूस म सुप्रीम सोवियत दो तिहाई बहुमत से कोई भी सशोधन कर सकती है। अत सविधान म सशोधन करने का अधिकार एक प्रकार से व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता स्थापित कर देता है।

अन्य काय—व्यवस्थापिका सभा ही जनता की शिकायतो को प्रकाश म लाने का उत्तम साधन सिद्ध हुई है। इसम सभी प्रकार की विचारधारा के मामलो की सुनवाई हो सकती है तथा वाद विवाद और चर्चा द्वारा लोक महत्व की विभिन्न समस्याओ पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसकी सभी कायवाहियो को समाचार पत्रो म प्रकाशित किया जाता ह। यह लोकमत को प्रकट करने और उसका निमाण करन के साधनो के रूप मे कार्य करती ह। फ्रेडरिक का विचार है कि आधुनिक समय म एक प्रतिनिधिसभा का मूल कार्य कानून निर्माण उतना नही ह जितना कि आम जनता की राजनीतिक शिक्षा प्रचार कार्य तथा विभिन्न मतो, विचारो और मतभेदो का एकीकरण। व्यवस्थापिकाओ का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण बनता जा रहा है वास्तव म प्रजातत्र का भविष्य बहुत कुछ इसी पर निभर करता ह।

विधान मडल का सगठन (Organisation of Legislature)

आज के प्रजातान्त्रिक युग म विश्व के कई देशो म के■ की विधायिका म दो सदन होते हैं। एक प्रकार की व्यवस्थापिकाए व होती है, जिनम केवल एक ही सदन होता है जिन्हे एक सदनीय (Uni Cameral) कहा जाता है, तथा दूसरे प्रकार की व्यवस्थापिकाए वे होती ह, जिनम दो सदन होते हैं, जिन्हे द्विसदनीय ((Bi Cameral) कहा जाता है। भारत के के■ मे और कुछ राज्यो म दो सदन विद्यमान हैं भारतीय ससद के दो सदनो को लोकसभा (प्रथम सदन) और राज्य सभा (दूसरा सदन) कहा जाता ह। ग्रेट ब्रिटेन की ससद विश्व की प्राचीनतम द्विसदनात्मक ससद का रूप है। ससद के दो सदन हैं—लाडसभा और लोकसभा। लाडसभा का सगठन आनुवाशिक होता ह और लोकसभा निम्न सदन। लेकिन महत्व की दृष्टि से यह प्रथम सदन ह। इसी प्रकार अमरिका मे भी द्विसदनात्मक व्यवस्था (Bi-Cameral Pattern) का रूप हमे स्पष्ट दिखाई देता ह। सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा (The house of the Representatives) सीनेट ही सयुक्त राज्य अमेरिका का द्वितीय या उच्च सदन कहलाता है यह राज्यो का सदन है। इसम प्रतिनिधित्व का आधार राज्यो की समानता का

सिद्धान्त है। प्रतिनिधि सभा संयुक्त राज्य अमरिका की कांग्रेस का निम्न अथवा प्रथम सदन है, यह प्रत्यक्ष रूप से जनता का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार स्विटज़रलैंड और आस्ट्रेलिया में भी दो सदनों का संगठन उन्हीं सिद्धान्तों पर हुआ है जिन पर अमरिकी सीनेट का। प्रायः प्रत्येक देश में निम्न सदन जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करती है और उच्च सदन जनता के कुछ वर्गों का। जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने के कारण निम्न सदन उच्च सदन से प्रायः अधिक शक्तिशाली और अधिकार सम्पन्न होता है। जब लोकतांत्रिक शासन का सूत्रपात हुआ तब अधिकांश देशों में एक सदनीय व्यवस्थापिका थी। आजकल प्रायः सभी महत्व पूर्ण देशों में द्विसदनीय व्यवस्था विद्यमान है। सर हेनरी मेन के अनुसार—किसी भी प्रकार का द्वितीय सदन बिल्कुल न होने से अच्छा है क्योंकि द्वितीय सदन पहले सदन का शत्रु नहीं वरन अधिक सुरक्षा का साधन होता है।'

सदनों की रचना—विश्व के अधिकांश देशों में प्रथम सदन की रचना राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों से होती है। द्वितीय सदन की रचना में अवश्य ही भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया है। यदि ग्रेट ब्रिटेन में हाउस आफ लार्डस की रचना वंशानुगत के आधार पर होती है तो संयुक्त राज्य अमरिका ब्राजील और आस्ट्रेलिया आदि राज्यों के द्वितीय सदन पूर्णतः निर्वाचित होते हैं। कुछ राज्यों में ऐसी ही व्यवस्था पाई जाती है कि द्वितीय सदन के सदस्य सरकार द्वारा आंशिक रूप से मनोनीत किये जाते है। भारतीय संघ में द्वितीय सदन (राज्य परिषद) की रचना इसी सिद्धान्त के आधार पर की जाती है तथा जापान, कनाडा इटली आदि देशों में पूर्ण मनोनयन तथा निर्वाचन के मध्यमार्ग को ग्रहण को किया गया है।

विश्व के अधिकांश देशों में द्विसदनीय व्यवस्थापिकाएं एक इकाई के रूप में कार्य करती हैं। संसद अथवा व्यवस्थापिका इकाई के रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी मानी जाती है। व्यवस्थापिका चाहे प्रत्यक्ष निर्वाचन से संगठित हो अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन से चाहे वह वंशानुगत हो अथवा मनोनीत, अन्ततोगत्वा वह अपने लक्ष्यों और उत्तरदायित्वों की दृष्टि से एक प्रतिनिधि सदन ही होती है, जो सम्पूर्ण राष्ट्र का समग्र रूप से प्रतिनिधित्व करती है। इतना होने के उपरांत भी व्यवस्थापिका का रूप एक सदनीय होना चाहिये अथवा द्विसदनीय इसके लिए राजनीति शास्त्रियों में विभिन्न मतभेद रहे है।

एक सदनात्मक पद्धति (Unicameral System)

(1) व्यवस्थापिका में एक सदन होने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि

व्यवस्थापन काय म एकता और एक रूपता रहनी ह। अठारहवी शताब्दी म फ्रेंच क्रान्तिकारियो तथा राजनतिक विचारको का यहा तक कहना था कि दो तीन सदनो के अस्तित्व का अर्थ दो या तीन प्रभुत्वा का अस्तित्व होता ह।[1] सइस ने एक सदनात्मक पद्धति की विस्तत व्याख्या इस प्रकार म की ह 'कानून जनता की इच्छा हाती ह। किसी विषय क सम्बन्ध म एक समय म जनता की दो भिन्न इच्छाए नही हो सकती अत व्यवस्थापिका सभा जो जनता का प्रतिनिधित्व करती हैं, आवश्यक रूप से एक होनी चाहिये। जहा कही भी दो सदन हाग, मतभेद एव विरोध अवश्यम्भावी होग, तथा जनता की इच्छा अकमण्यता का शिकार बन जायगी। [2]

इसी प्रकार लाड ब्राइस ने भी एक सदनात्मक पद्धति का समथन किया और कहा है कि "यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन का विरोध करता है तो अहितकर है और वह उसक साथ सहयोग करता है ता वह अनावश्यक है[3] इस प्रकार व्यवस्थापक की एकता म व्यवस्थापिका एक सदनीय हानी चाहिए।

बन्जामिन फ्रेंकलिन भी एक सदनीय व्यवस्था का प्रबल प्रतिपादक था वह कहा करता था कि, द्विसदनीय व्यवस्थापिका ठीक उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार की वह गाडी, जिसम दोना ओर घोडे जात दिय गय हा और व अपनी अपनी ओर गाडी को खीचे तथा परिणाम यह हो कि उसकी प्रगति किधर को भी न हो सक। अत व्यवस्थापन काय के सुचारु सचालन हेतु व्यवस्थापिका एक सदनीय हानी चाहिए।

---

1 Manual Constitional, de droit P 344 —Duguit

2 The law is the will of the people the people can not at the same time have two different wills on the same subject therefore the legislative body which represents the people ought to be essentially one Where there are two chambers discord and division will be inevitable and the will of the people will be paralysed by inaction Sieyes—Quoted by Garner Political Science & Government P 603

3 If a second chamber dissents from the first it is mischievous if it agrees with it it is superfluous Bryce Modern Democracies vol II P 399

एक सदनात्मक पद्धति के दोष—एक सदनीय व्यवस्थापिका म उसकी शक्तिया असीमित एव अनियन्त्रित होती है। एक सदनीय व्यवस्थापिका उसी प्रकार उद्दड तथा भ्रष्ट हो सकती है, जिस प्रकार निरकुश शासक। जसा लेकी (Lecky) ने कहा है किसी निरकुश शासनकर्त्ता की भाति वह (एक सदनीय व्यवस्थापिका) भी अनियत्रित शक्ति की प्राप्ति से उत्पन्न लालचो से भ्रष्ट हो सकती है, और कम दायित्व की भावना और कम विचार सहित काय कर सकती है।'[1]

द्विसदनात्मक पद्धति (Bi Cameral System)

राजनीति-शास्त्र के विद्वानो ने द्वितीय सदन को शासन काय म बाधक न बतलाकर सहायक सिद्ध किया हैं। लाड एक्टन ने इस पद्धति की प्रशसा करते हुए लिखा है, ' द्वितीय सदन स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए अति आवश्यक है। यह नीति म सतुलन स्थापित करता है। अल्पसख्यको की रक्षा करता है तथा प्रथम सदन की त्रुटियो को ठीक करता है।[2]

इसी प्रकार लीकाक ने भी द्विसदनीय पद्धति का वणन करते हुए लिखा है, 'विधायिका का एक ही सदन जल्दबाज तथा अनुत्तरदायी होता है। वह वक्ताओ के भाषणो के भावावश मे आकर बहुत से काय कर देता है। यह एकदम फिजूल खच कर सकता है या एकदम नौकरी मे कमी कर सकता है।"[3] द्विसदनीय व्यवस्थापिका म जल्दबाजी तथा अविचारपूण व्यवस्थापन नही होता। द्वितीय सदन

---

1 It is as susceptible as an individual despot to the temptations that grow out of the possession of an uncontrolled power, and it is likely to act with much less sense of responsibility and much less real deliberation
Lecky : Democracy and Liberty vol I, P 299

2 Second chamb r is the essential security for freedom it provides the necessary balance of power in the polity gives protection to the minorities, and a good revising chamber
—Lord Acton

3 The necessity of a second chamber to exercise a controlling, modifying and regarding influence has acquired almost the position of an axiom
—Lecky Democracy & Liberty, Vol I, p 300

निम्न सदन द्वारा बनाये गये विधेयकों पर विवेकपूर्ण विचार करता है। लेकी ने ठीक ही कहा है 'नियन्त्रण करने संशोधन करने, रुकावटें डालने आदि में जो कार्य द्विसदनीय व्यवस्था कर सकती है, उसमें ही द्वितीय सदन स्वयं में सिद्ध है।" यह भी कहा जाता है कि एक राय की अपेक्षा दो रायें सदा श्रेष्ठ होती हैं। इस प्रकार द्विसदनीय व्यवस्था भी श्रेष्ठ सिद्ध हुई है। इससे द्विसदनीय व्यवस्था की उपादेयता स्वयं ही सिद्ध होती है।

(2) इस पद्धति में प्रत्येक सदन परस्पर एक-दूसरे की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखता है। जे एस मिल ने लिखा है "दूसरे सदन के अभाव में एक सदन निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जाता है। इस प्रकार अविभाजित सत्ता के दूषित प्रभाव को रोकने के लिए दूसरा सदन अति आवश्यक है। व्यवस्थापिका के सदस्य अत्याचारी, भ्रष्ट और स्वेच्छाचारी न होने के लिए दो सदनों का होना नितान्त आवश्यक है।' स्टोरी के कथनानुसार व्यवस्थापिका के अत्याचारों से सुरक्षित होने का यही एकमात्र उपाय है कि कार्यों का विभाजन कर दिया जाय जिससे द्विसदनीय व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके।"

(3) द्विसदनीय व्यवस्था प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुकूल है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा अनिवार्य है। लोकतन्त्र की पद्धति में निर्वाचन द्वारा व्यवस्थापिका का निर्माण होने के कारण उन्हीं लोगों का स्थान मिल पाता है जो शक्तिशाली दलों से सम्बन्धित होते हैं। द्विसदनीय व्यवस्था प्रतिनिधित्व की उत्तमता की दृष्टि से अच्छी समझी जाती है। इसके अतिरिक्त अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिल पाता है। इससे व्यवस्थापिका की कार्य कुशलता और सक्षमता में वृद्धि होती है। इस प्रकार द्विसदनीय व्यवस्था में राष्ट्रीयता तथा स्थानीय स्वतन्त्रता दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है।

(4) व्यवस्थापिका में दो सदन होने से श्रम विभाजन की बचत होती है। उच्च सदन निम्न सदन के अनेकों उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर निभा सकता है। इस प्रकार निम्न सदन महत्वपूर्ण कार्यों में समय और शक्ति लगा सकता है। द्विसदनीय व्यवस्था में कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होती है। दोनों सदन एक दूसरे सदन की निरंकुशता पर अंकुश लगाते हैं इससे कार्यपालिका को पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जाती है।

संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए द्विसदनीय प्रणाली अति उत्तम रहता है। इन आधारों पर द्विसदनीय व्यवस्था का समर्थन किया जाता है किन्तु अनेक विचारकों की दृष्टि में द्विसदनीय व्यवस्था की कटु आलोचनाएँ भी की जाती हैं।

कार किया है। वास्तव म लोकतान्त्रिक राज्य के लिए द्विसदनीय व्यवस्था ही उपयुक्त सिद्ध हुई है।

निष्कर्ष (Conclusion)—आजकल प्रतिनिधिक लोकतन्त्र के लिए द्वि-सदनात्मक विधानमण्डल नितान्त अ वश्यक माना गया है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि यदि द्वितीय सदन अपना काम वफ दरी से करे अर्थात यदि वह लोकप्रिय सदन द्वारा पारित विधियो की परीक्षा करे और उन पर पुनर्विचार करे तो वह लोकप्रिय सदन की जल्दबाजी और आतुरता को बहुत कुछ सुधार सकता है। दूसरे सदन को आवश्यकता का आधार यह है कि सरकार के निर्णयो का बहुत अधिक लोगों पर दूर-दर तक प्रभाव पडता है। अत, उन निर्णयो के लिए बहुत-से योग्य व्यक्तियो की म त्रणा चाहिए। इसलिए, यदि एक सदन की वजाए सरकार को म त्रणा देने के लिए दो सदनो की व्यवस्था कर दी जाए तो और भी अच्छा है। इससे सरकारी विधियो को और अधिक मान्यता प्राप्त होगी। किन्तु द्वितीय सदनो का लाभ तभी है, जब वे स्वच्छन्द रूप में विचार कर और लोकप्रिय सदनो की हाँ मे हाँ मिलाने वाले न हो। अत, यदि उनके विचार लोकप्रिय सदनो के विचारो से भिन्न हो तो कोई हानि नही। कि तु यह नहीं भूलना चाहिए कि द्वितीय सदन केवल पुनर्विचारक सदन है। वह देर कर सकता है, कि तु उसे हठ नही करना चाहिए। उच्च सदन विरोध तो कर सकता है पर अडगा नही डाल सकता। निर्णय करने की अ तिम शक्ति तो लोकप्रिय सदन के हाथो मे ही रहेगी।

उच्च सदन (Upper House)—यह सवत्र माना जाता है कि उच्च सदन निम्न सदन की जल्दबाजी के विरुद्ध रोक लगाता है। अब उसकी यह उपयोगिता सभी मानत हैं। किन्तु उच्च सदन के गठन के प्रश्न पर गम्भीर मतभेद है। नीचे कुछ महत्वपूर्ण विधियाँ दी जा रही हैं जिनके आधार पर उच्च सदनो के सदस्यो का निर्वाचन होता है। कई राज्यो ने इन विधियो मे से दो या तीन विधिया एक साथ अपना रखी हैं।

सबसे प्रथम वशागत सिद्धान्त (Hereditary Principle) है जिसके आधार पर इगलैण्ड की लाड सभा का सगठन हुआ है। लाड सभा के 90% से अधिक सदस्य वशानुगत लाड हैं। यह भी इतिहास की बात है। यह मानना गलत है कि किसी राजा न कभी वशानुगत लाड लोगो की सस्था बनाई हो। कि तु यह एक रिवाज सा बन गया था कि राजा जब कभी ससद आहून करता था तो वह उन्ही पीयरो या लार्डों को बुलाता था जो पहले की ससद के सदस्य होते थे। यदि उन दिनो उनम से कोई पीयर या लाड मर जाता था तो उसके ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया

जाता था। थोड़े समय के बाद पता अधिकार बन गई और लार्ड सभा की सीट पिता से पुत्र को पाती गई।

लार्ड सभा में सब स्थान नियुक्तियों के द्वारा भरे जाते हैं जिनमें वंशानुगत लार्ड नहीं होते। मुख्य रूप से उनमें धर्माध्यक्ष (Lords Spiritual), जाड आफ अपील, आयरलैण्ड और स्काटलैण्ड के प्रतिनिधि पीयर और शाही घराने के लोग होते हैं। वंशानुगत सदन का विचार लोकतंत्रात्मक नहीं है। कोई भी सभ्य जाति जान बूझ कर वंशागत सदन की स्थापना का दुस्साहस नहीं करेगा। यदि अंग्रेज लोग कभी अपनी शासन व्यवस्था का पुनर्गठन करेंगे तो वे शायद सबसे पहले वंशागत लार्ड सभा को समाप्त करेंगे।

दूसरा नाम-निर्देशन का सिद्धान्त है। सदस्यों का कार्यपालिका या तो जीवन भर के लिए या एक निश्चित काल के लिए उनके पद पर नियत करती है। नाम निर्देशन की विधि का एक लाभ है। और निर्वाचन की विधि का परिणाम सदैव योग्यतम और सही मनुष्यों का चुनाव नहीं होता। प्रायः प्रत्येक देश में अनेक योग्य मनुष्य होते हैं, जो अपने आप उत्तरदायित्व बनाने में संकोच करते हैं, क्योंकि वे निर्वाचन के दौरानों का सामना नहीं कर सकते। इसलिए, नाम-निर्देशन की विधि योग्य मनुष्यों को व्यवस्थापकमण्डल का सदस्य होने के योग्य बनाती है। किन्तु मनोनीत सदस्यों का समठित भवन प्रतिनिधि सदन नहीं होता और इसी कारण, उसमें लोक सम्मत द्वारा प्राप्त अधिकारों का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त नाम निर्देशन का परिणाम सदैव निपुण एवं योग्य मनुष्यों का चुनाव नहीं होता। कभी कभी सत्तारूढ़ दल की सेवाएँ और सिफारिशें ही नाम निर्देशन का मुख्य मानदण्ड होती हैं। इस प्रकार नाम निर्देशन की शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना हो सकती है। नाम निर्देशित सदन का सर्वोत्तम उदाहरण कनाडा का सीनेट है। यह इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि किस प्रकार कार्यपालिका अपने समर्थकों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति करती है। जहाँ तक सीनेट की शक्तियों का सम्बन्ध है, वह केवल कहने भर का है।

उच्च सदन के निर्वाचन में दो विधियों को अपनाया जा सकता है—प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन। प्रत्यक्ष निर्वाचित विधि द्वारा निर्वाचित उच्च सदन संघीय राज्यों में पाया जा सकता है, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के उच्च सदन प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित हैं। अमेरिकी सीनेट में 100 सदस्य हैं। 50 राज्यों में से प्रत्येक 2 2 सदस्य भेजता है। आस्ट्रेलिया की सीनेट में 36 सदस्य हैं, वहाँ के छहों राज्य सामान्य टिकट प्रणाली के आधार पर 6 6 सदस्य भेजते हैं।

प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित उच्च सदन म मुख्य कठिनाई यह है कि वह निम्न सदन का ही रूप धारण कर लेता है। इस तरह का प्रतिनिधित्व कोई उद्देश्य पूर्ण नही करता और इससे संवैधानिक गतिरोध तक हो सकता है।

भारत म राज्य सभा अप्रत्यक्ष रूप म निर्वाचित है। फ्रास के चौथे गण-राज्य मे वहा की कौंसिल ग्राफ रिपब्लिक (Council of Republic) भी परोक्ष रीति से निर्वाचित होती थी। अमेरिकी सीनेट भी 1913 से पूर्व परोक्ष रीति से निर्वाचित सदन था। लास्की का जो एक सदनात्मक व्यवस्थापिका-सभा के समर्थक हैं मत है कि 'भ्रष्टाचार को अधिकाधिक प्रोत्साहित करने की सब विधियो म परोक्ष निर्वाचन सबसे खराब है।' वह और आगे कहते हैं, 'यदि इस प्रकार का सदन, अपने निर्वाचन के समय, तात्कालिक सरकार का विरोधी है, तो वह कार्य क्षमता के लिए विनाशकारी होता है और यदि वह अनुकूल है, तो वह सम्भवत निरर्थक होगा।"

जो भी हो, उच्च सदन के निर्माण की सतोषजनक विधि प्रस्तावित करना आसान नही है। ब्लटश्ली ने कहा था कि किसी राज्य मे कुलीनतांत्रिक और जन-तान्त्रिक अगो के भेद की उपेक्षा नही की जा सकती। इन अगो मे से केवल एक का प्रतिनिधित्व स्वीकार करना दूसरे के प्रति अन्याय करना है। जान स्टुअर्ट मिल ने राजनीतिक अनुभव और शिक्षण के सिद्धात पर द्वितीय सदन निर्माण करने की तजवीज की थी। यदि एक जनता का सदन हो तो दूसरा नीतिज्ञो का सदन होना चाहिए, एक ऐसी परिषद् होनी चाहिए जो सब ऐसे जीवित सार्वजनिक मनुष्यो द्वारा निर्मित हो, जो महत्वपूर्ण राजनीतिक पदो या नौकरियो पर रह चुके हो। मिल का यह भी कहना था इस प्रकार का सदन न केवल विचारो को नम्र करने वाली या अवरोधक संस्था होगी प्रत्युत शक्ति सचरण करने वाली भी होगी।"

एक अन्य प्रस्तावित विधि नार्वे मे प्रचलित है और ली-स्मिथ (Lees Smith) ने हाल ही में उसका समर्थन किया है। इस योजना के अनुसार, द्वितीय सदन एक ऐसी छोटी संस्था होगी, जो निम्न सदन द्वारा निर्वाचित होगी। इसका एकमात्र कृत्य स्थगित करना और सशोधन करना होगा। सम्भवत सर्वोत्तम विधि सिजविक द्वारा प्रस्तावित की गई है। इनका आदर्श नाम निर्देशन और अप्रत्यक्ष चुनाव का मिश्रण है। उनका कहना था कि अप्रत्यक्ष चुनाव उस सदन को किसी सीमा तक प्रतिनिधि रूप प्रदान करता है और नाम निर्देशन व्यवस्थापिका सभा म योग्य एव अनुभवी लोगो को लाने का अवसर प्रदान करता है। भारत मे राज्य सभा का सगठन इन दोनो शर्तो को पूर्ण करता है। भारत की राज्य सभा

(Council of States) में कुल 250 सदस्य हैं, जिनमें से 238 सदस्य राज्यों से लिए जाते हैं और 12 सदस्य नाम निर्देशित किये जाते हैं। जिन लोगों को साहित्य, विज्ञान, कला या सामाजिक सेवा का विशेष अनुभव होता है, उनमें से 12 व्यक्तियों को राष्ट्रपति राज्य सभा के लिए नाम निर्देशित करता है।

निम्न सदन (Lower House)--किसी द्वि सदनात्मक विधानमण्डल के दोनों सदनों को क्रमश उच्च सदन (Upper House) और निम्न सदन (Lower House) कहते हैं। किन्तु वास्तव में उनको ये नाम देना गलत है। जहाँ तक वैधानिक शक्तियों का सम्बन्ध है, तथाकथित उच्च सदन, निम्न सदन की अपेक्षा कमजोर है। इसके कृत्य गौण होते हैं और यह सदन निर्वाचित भी नहीं होता। केवल ऐतिहासिक कारणों से इस सदन का नाम उच्च सदन रख दिया गया है। सभी लोकत त्रात्मक देशों में निम्न सदन लोकप्रिय सदन है जिसके सदस्य सर्वसाधारण द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित होते हैं। आजकल प्राय सभी लोकतन्त्री देशों में कतिपय योग्यताओं सम्बन्धी शर्तों के अधीन व्यापक मताधिकार है।

निम्न सदनों के सदस्यों का कार्य काल तीन वर्षों से पाँच वर्षों तक का रखा गया है। संयुक्त राज्य अमरिका के प्रतिनिधि सदन का कार्य काल केवल 2 वर्ष है। प्रतिनिधित्व की दृष्टि से यह अच्छा है कि निम्न सदन के सदस्यों का कार्य काल छोटा हो। कि तु कार्य कुशलता की दृष्टि से सभी यह मानते हैं कि उनका कार्य-काल बड़ा हो। सभी इस सम्ब ध में एकमत हैं कि विधायकों का कार्य काल न तो अधिक लम्बा हो, न अधिक छोटा। यदि कार्य-काल अधिक लम्बा होगा तो प्रतिनिधियों का निर्वाचक समूह से सम्ब ध विच्छेद हो जाएगा, यदि कार्य काल बहुत ही छोटा होगा तो प्रतिनिधियों को न तो अनुभव होगा और न मन्त्री लोग किसी नीति का विकास कर सकेंगे। अधिकतर राज्य चार पाँच वर्षों का समय उचित समझ रहे हैं। लास्की का मत है— विधानमण्डल का कार्य काल चार वर्षों से कम नहीं होना चाहिए और पाँच वर्षों से अधिक नहीं होना चाहिए।" डॉ फाइनर तो विधानमण्डल का कार्य काल केवल चार वर्ष स्वीकार करते हैं।

दोनों सदनों में सद्धान्तिक भेद होना चाहिए (The two Chambers should differ in Principle)—जहाँ दोनों सदनों का समान सिद्धांतों के आधार पर गठन किया जाता है, वहाँ पर दो सदनों का रखना, न रखना बराबर सा है। यदि दोनों सदन समान हैं तो फिर द्वितीय सदन व्यर्थ है। लीबर के शब्दों में "यदि दोनों सदन एक ही निर्वाचकों द्वारा एक ही अवधि के लिए

निर्वाचित किए जाते हैं, तो वे दोनों सदन मानों एक सदन की दो समितियाँ मात्र होंगे। किन्तु हम चाहते हैं कि दोनो सदन अलग अलग वास्तविक शक्तियों से सम्पन्न हो। वे प्रतिनिधिक भी हो और शीघ्र कार्य करने वाले भी हो और निरंतरता लिए हुए भी हो। वे उन्नतिशील होने के साथ-साथ विचारशील और रूढ़िवादी भी हो, उनमें आगे बढ़ने का निर्भीक साहस हो किन्तु वे पीछे भी देखें, वे शीघ्रकारी और नवीनतावादी भी हो और विलम्बकारी भी हों, संक्षेप में वे दोनों सब प्रकार की सभ्यता के प्रतीक हो। इसलिए एक सदन बड़ा हों, दूसरा अपेक्षाकृत छोटा हो एक सदन निर्वाचित हो, दूसरा निर्वाचित और नाम निर्देशित हो और अपेक्षाकृत दीर्घजीवी हो।'

दोनो सदनो की शक्तियाँ (Powers of the Houses)—विधियों के निर्माण के सम्बन्ध में आम सिद्धांत यह है कि द्वि-सदनात्मक विधानमण्डल में दोनों सदनो की शक्तियाँ बराबर हो। कोई विधेयक किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकता है, दोनों सदनों की समान वैधानिक प्रक्रिया है और दोनों सदनों की समान वैधानिक प्रक्रिया है, और दोनों सदनों की समस्त प्रक्रिया को पार करने के बाद ही कोई विधेयक पास हो सकता है। बिना दोनों सदनों की सम्मति के कोई विधेयक स्वीकृत नहीं हो सकता। कोई भी सदन विधेयक में संशोधन उपस्थित कर सकता है किन्तु जब तक दूसरा सदन उसे पुनः स्वीकार न कर लेगा, तब तक वह विधि का रूप धारण नहीं कर सकता। वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों को समान अधिकार है किन्तु दोनों की शक्तियाँ बराबर नहीं है। राज्य के वित्त पर निम्न सदन का पूर्ण अधिकार है, क्योंकि माना यह जाता है कि कराधान और प्रतिनिधित्व साथ साथ चलते हैं। कहा जाता है, सर्वसाधारण के प्रतिनिधि ही राज्य की आय के स्वामी हैं और वही व्यय की अनुमति दे सकते है। इसलिए, वित्तीय विधेयक निम्न सदन में ही पुरःस्थापित किए जा सकते हैं और वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में निम्न सदन को ही पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। ब्रिटिश लार्ड सभा में न तो वित्तीय विधेयक पुरःस्थापित हो सकता है, न वह सदन वित्तीय विधेयक में काट छाँट कर सकता है, न उसे रद्द हो सकता है। 1875 के संविधान के अनुसार फ्रांस की सीनेट और राष्ट्रीय सभा (Chamber of Deputies) की शक्तियाँ समान थीं अन्तर केवल यह था कि वित्तीय विधेयक केवल राष्ट्रीय सभा (Chamber of Deputies) में ही पुरःस्थापित हो सकते थे। सीनेट का अधिकार था कि वह चाहे तो वित्तीय विधेयक में संशोधन करे या उसे अस्वीकृत करे। किन्तु, वस्तुतः सीनेट की स्थिति गौण थी। संयुक्त

फ्रेंच गणराज्य के संविधान के अनुसार वित्तीय विधेयक केवल राष्ट्रीय सभा (National Assembly) में ही पुरःस्थापित हो सकता था और उसके बाद वह विधेयक गणराज्य की परिषद् (Council of the Republic) के समक्ष उसकी सम्मति के लिए भेजा जाता था। किन्तु परिषद् को उतने ही समय में अपनी सम्मति देनी होती थी जितना समय कि राष्ट्रीय सभा विधेयक पर विचार करने में लिया था। इसलिए, परिषद सामान्य विधेयकों पर दो महीने का समय लगा सकती थी, पर वित्तीय विधेयकों पर नहीं। भारत में वित्तीय विधेयक केवल लोकसभा (House of the People) में ही पुरःस्थापित किया जा सकता है। राज्यसभा (Council of States) के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्बन्धित वित्तीय विधेयक पर 14 दिनों में अपनी सम्मति दे दे। यदि राज्य सभा किसी वित्तीय विधेयक को 14 दिनों से अधिक रोकती है या यदि वह उक्त विधेयक को ऐसी सिफारिशों के सहित वापिस करती है जो लोक सभा को स्वीकार्य नहीं है, तो लोक सभा का सभा की इच्छा ही सर्वोपरि होगी। इंगलैण्ड में लार्ड सभा (House of Lords) किसी वित्तीय विधेयक को एक महीने तक रोक सकती है किन्तु अंतिम शक्ति कॉमन सभा के पास है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यद्यपि सीनेट (Senate) में कोई वित्तीय विधेयक पुरःस्थापित नहीं हो सकता, किन्तु सीनेट चाहे तो वित्तीय विधेयक को संशोधित भी कर सकता है या उसे अस्वीकृत भी कर सकता है।

सिद्धान्त, दोनों सदनों की शक्तियों में स्पष्ट अन्तर रहने चाहिएँ। निःसन्देह, उच्च सदन जिस प्रकार निर्वाचित होगा और उसका गठन जिस प्रकार होगा, उसी प्रकार दोनों सदनों की शक्तियों में अन्तर हो सकता है। यदि इंगलैंड और कनाडा के समान उच्च सदन वंशानुगत (Hereditary) या नाम निर्देशित (Nominated) होगा तो ऐसे उच्च सदन की शक्तियाँ भी अत्यन्त क्षीण होंगी। यदि भारत और अमरिका की तरह उच्च सदन भी निर्वाचित होगा, तो उसकी शक्तियाँ वधानिकतः निम्न सदन के बराबर होंगी, किन्तु लोकतन्त्री आदर्शों ने निम्न सदन को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया है। यदि कभी दोनों सदनों में संघर्ष होगा तो चूंकि निम्न सदन अधिक प्रतिनिधिक स्वरूप का सदन है इसलिए उसकी चलेगी। अमेरिकी सीनेट की बात ही दूसरी है, क्योंकि उसको संविधान के निर्माताओं ने ही अधिक शक्तिशाली बनाना निश्चित किया था। जहाँ कहीं भी दोनों सदनों के समान अधिकार होंगे वहीं दो सदनों का रखना न रखना बराबर हो जाएगा। एक सी शक्तियों का अर्थ है एक काम को दो दो बार करना और इस प्रकार के

विधानमण्डल के लाभ कुछ नहीं हैं। उच्च सदन संशोधनकारी निकाय है। उच्च सदन पुनर्विचारक संस्था है उसे निर्णय करने का अधिकार नहीं है। अत, निम्न सदन के उतावलापन और आमूल परिवर्तनवाद के विरुद्ध उच्च सदन एक अंकुश है। उच्च सदन का वास्तविक उद्देश्य ब्रेक का काम करना है, किन्तु उसे इतनी कड़ी ब्रेक नहीं लगानी चाहिए कि दोनों सदनों के सम्बन्ध ही टूट जाए। यदि जनमत, उच्च सदन के दृष्टिकोण का समर्थन करता है, तो निम्न सदन स्वत ही अपने दृष्टिकोण में सुधार कर लेगा। अन्यथा उच्च सदन को चाहिए कि वह निम्न सदन की इच्छा के आगे नतमस्तक हो जाए। संक्षेप में उच्च सदन का कार्य यह है कि वह निम्न सदन का विरोध तो करे किन्तु उसे हठ नहीं करना चाहिए।

चिरकाल से प्रायः सभी देशों में उच्च सदनों को कुछ ऐसे विशेष अधिकार दे देने का प्रचलन है जो निम्न सदनों को नहीं दिये जाते। लगभग प्रत्येक देश में उच्च सदनों को न्याय विभाग की शक्तियों का प्रयोग करने का अधिकार दिया जाता है। ब्रिटेन में लार्ड सभा अपील का सबसे बड़ा न्यायालय है। अमेरिका में सीनेट महाभियोग के न्यायालय का कार्य करता है। 1875 के फ्रांसीसी संविधान ने गणराज्य के प्रधान को अधिकार दिया था कि वह सीनेट की सहमति से राष्ट्रीय सभा (Chamber of Deputies) को भंग कर सकता है। अमेरिका में सीनेट कतिपय कार्यपालिका कृत्य भी करता है। अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा की गई सब नियुक्तियों पर सीनेट का अनुमोदन आवश्यक ठहराया गया है। सब सन्धियों पर भी सीनेट की स्वीकृति की मुहर आवश्यक है।

अधिकार एवं कर्तव्य
(Rights & Duties)

7

न्याय के नियमों द्वारा रक्षित नियमों को अधिकार कहा जाता है। कोई भी हित जिसका आदर करना कर्तव्य हो एवं जिसका अतिक्रमण उचित हो, अधिकार कहलाता है। —सामण्ड

विधि का उद्देश्य समाज में न्याय की स्थापना करना है। न्याय की स्थापना का तात्पर्य यह होता है कि समाज में ऐसा सुरक्षापूर्ण वातावरण स्थापित किया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को प्राप्त कर सके। यह उद्देश्य उसी समय पूरा हो सकता है जब राज्य अपनी शक्ति के प्रयोग से लोगों के अधिकारों को सुरक्षित करे और उनका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करे। सामण्ड के मतानुसार अधिकार विधान द्वारा माना जाने वाला तथा सुरक्षित किया जाने वाला हित (Interest) होता है। यदि व्यक्ति के समक्ष अपना कर्तव्य है, तो उसे अधिकार स्वतः प्राप्त होता है। अन्य दूसरे के हित का सम्मान करना कर्तव्य (Duty) है और उसका उल्लंघन करना अपकार (Wrong) कहा जाता है। अतः अधिकार की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम विधि का अधिकार तथा कर्तव्य के साथ सम्बन्ध और अपकार (Wrong) के अर्थ को समझना आवश्यक है।

विधि का अधिकार तथा कर्तव्य से सम्बन्ध (Relation of Law to Right and Duties)—वास्तव में विधि का निर्माण राज्य अपनी सत्ता को प्रदर्शित करने के लिए नहीं करता वरन् अपने नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा तथा उनके कर्तव्यों को लागू करने के लिए करता है। इसीलिए विधानों में अधिकारों का विवेचन किया जाता है और इस प्रकार उन अधिकारों की सुरक्षा के ही लिए नियम बनाये जाते हैं।

लोगों में नित नए विकास के साथ ही साथ अधिकारों के प्रति जागृति आती जा रही है। अब यह मानव स्वभाव ही बन गया है कि वह अधिकारों के लिए लड़े। इहरिंग (Ihering) के अनुसार, "जीवन का यही मूल अर्थ होता है कि हम

अधिकारों के लिए व्यावहारिक रूप में लड़ाई लड़ते रहे।" जीवन के उस प्रमुख उद्देश्य को राज्य अपने विधान द्वारा न्याय की स्थापना करके पूरा करता है। न्याय की स्थापना करने का तात्पर्य होता है कि अधिकारों का राज्य द्वारा संरक्षण किया जाय अर्थात् अधिकारों का उल्लंघन करने वाले को या अपने कर्तव्य को पूरा न करने वाले को दण्डित किया जाय। हालैण्ड लिखते हैं कि विधि का प्रथम उद्देश्य वैधानिक अधिकारों की रचना तथा संरक्षण करना होता है। वैधानिक नियम दो प्रकार के होते हैं। पहले तो आदेशात्मक होते हैं जो कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं और दूसरे अधिकारात्मक होते हैं जो अधिकारों को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार अधिकार तथा कर्तव्य विधि के तत्व होते हैं। विधि की इसी दृष्टि से यह परिभाषा की जा सकती है कि यह व्यवहार के संचालन के लिए राज्य द्वारा लागू किए जाने वाले अधिकारों तथा कर्तव्यों की अभिव्यक्ति होती है। विधि किसी व्यवस्थित समाज में लोगों के अधिकारों का निर्माण, संरक्षण तथा संतुलन करती है। विनोग्रेडाफ के अनुसार, 'वैधानिक व्यवस्था का अर्थ सभी अधिकारों का सामंजस्य होता है।'[1] इसी प्रकार सविनी के अनुसार "भाषा में व्यक्त तथा पूर्ण शक्ति से सुसज्जित सुस्पष्ट अधिकार को ही विधि कहते हैं।'[2] अधिकार, कर्तव्य तथा विधि वास्तव में एक ही समद्विबाहु त्रिभुज की तीन भुजाएँ होती हैं। किसी भी एक का उल्लंघन दूसरे के उल्लंघन का कारण हो जाता है।

अपकार (Wrongs)—अधिकार के साथ ही अपकार (Wrong) तथा कर्तव्य (Duty) पूर्णतया सम्बद्ध हैं। अतएव उनके विवेचन के बिना अधिकार का विवेचन अधूरा रहेगा। उनके अर्थ समझाने के पश्चात् अधिकार का अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

सामण्ड के विचार से "अपकार एक गलत काम होता है जो कि औचित्य तथा न्याय के नियमों के विपरीत होता है।"[3] अपकार के दो भेद होते हैं—

(1) वैधानिक अपकार (Legal Wrong)—यह अपकार वैधानिक रूप से ही गलत होता है क्योंकि यह वैधानिक न्याय के विरुद्ध होता है साथ ही यह

1 Legal order in a sense the aggregate of all the rights co ordinated by it —Vinogradoff

2 Positive right embodied in language and invested with absolute power is called the law —Savigny

3 A wrong is simply a wrong act—an act contrary to the rule of right and justice —Salmond

विधि का उल्लंघन भी करता है। यह विधि के द्वारा ही अपकार प्रमाणित किया जाता है और न्याय प्रशासन की दृष्टि से अपकार कहलाता है। विधि द्वारा निर्धारित समय में ऋण का भुगतान न करना इसी प्रकार का अपकार है।

(2) नैतिक अपकार (Moral Wrong)—यह अपकार प्राकृतिक न्याय के नियमों के विरुद्ध होने के कारण नैतिक या प्राकृतिक अपकार कहलाता है। अपने माता पिता की आज्ञा न मानना इस प्रकार का अपकार है।

वैधानिक अपकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि यह नैतिक अपकार भी हो। ठीक इसी प्रकार नैतिक अपकार के लिए भी यह आवश्यक नहीं कि यह वैधानिक अपकार भी हो। दोनों में यह भेद कुछ तो स्वच्छिकरूप से किया गया है और कुछ अपूर्ण ऐतिहासिक विकास के कारण। वैधानिक अपकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि राज्य की शक्ति भी इसके साथ सम्बद्ध रहे। केवल विधि द्वारा प्राप्त होने वाली मान्यता ही इसके लिए पर्याप्त है।

वैधानिक अधिकार (Legal Rights)—वैधानिक अधिकार का अर्थ भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से लगाया है। एहरेन्स (Ahrens) इसे एक माँग या बहाना बताते हैं। लेपिंग (Leiping) तथा सविनी (Savigoy) इसे शक्ति कहते हैं। हालैण्ड के विचार से यह एक क्षमता होती है। काण्ट (Kant) के विचार से यह एक विशेषाधिकार है। इहरिंग के अनुसार यह विधि द्वारा सुरक्षित हित है, और ऑस्टिन के विचार से एक गुण। अधिकार शब्द तो बड़ा ही व्यापक है और इसके अन्तर्गत नैतिक या प्राकृतिक अधिकार सभी आ जाते हैं। परन्तु विधिशास्त्र में केवल वैधानिक अधिकारों का ही विवेचन किया जाता है।

वैधानिक अधिकार प्राकृतिक या नैतिक अधिकारों से प्रमुखरूप से इस आधार पर भिन्न होते हैं कि वैधानिक अधिकारों को राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त होता है। इसका उल्लंघन वैधानिक अपकार होता है और राज्य अपकार करने वाले व्यक्ति को दण्डित करता है। प्राकृतिक या नैतिक अधिकार समाज की प्राकृतिक न्याय की भावनाओं पर आधारित होते हैं। इनका संरक्षण किसी भौतिक शक्ति द्वारा नहीं किया जाता। इनका अतिक्रमण प्राकृतिक अपकार कहलाता है और इस प्रकार का अपकार करने वाले को दण्डित नहीं किया जा सकता। वैधानिक अधिकार वास्तव में लोगों के बाह्य सम्बन्धित होते हैं और प्राकृतिक अधिकार लोगों की आंतरिक भावनाओं से सम्बन्धित होते हैं। इसी प्रकार वैधानिक अधिकारों का

उल्लंघन करने पर राज्य दण्डित करता है जबकि प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन करने से केवल सामाजिक भर्त्सना ही होती है।

वे यम प्राकृतिक अधिकारों को तर्क था सबसे बड़ा शत्रु तथा सरकारों का सबसे अधिक भयानक विध्वंसक मानते हैं। परन्तु हरबर्ट स्पेंसर वे यम के इस मत को उचित नहीं मानते।

हिबर्ट अधिकार की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह एक व्यक्ति की अपनी शक्ति नहीं वरन् अन्य व्यक्ति की शक्ति से लागू की जाने वाली इच्छा है जिससे वह दूसरे व्यक्तियों को कुछ कार्य करने के लिए विवश कर सकता है। यदि इस प्रकार का अन्य व्यक्ति ईश्वर है तो वह दैवी अधिकार होगा, यदि अन्य व्यक्ति सामान्य जनता है अभिमत से काम करती है तो यह नैतिक अधिकार होगा, यदि अन्य व्यक्ति राज्य है तो यह वैधानिक अधिकार होगा।

दावा, स्वतन्त्रता शक्ति तथा उन्मुक्ति (Claim, Liberty, Power & Immunity)

अधिकार एक ऐसा शब्द है जिसको कई अन्य मिलते जुलते भावों को व्यक्त करने के उद्देश्य से भी प्रयुक्त किया है। उदाहरणार्थ दावा भी एक प्रकार का अधिकार ही है स्वतन्त्रता (Liberty) भी एक प्रकार का अधिकार है। किसी अधिकारी को कुछ शक्तियाँ प्रदान की जाती है तो हम उनके लिय भी अधिकार शब्द का प्रयोग कर लेते हैं। इन सबो के अतिरिक्त उन्मुक्ति (Immunity) को भी अधिकार के अर्थों मे प्रयोग किया जाता है।

जहाँ तक दावा (Claim) तथा कर्त्तव्य का रिश्ता है वे ऐसे है कि एक चीज दूसर के बिना नहीं रह सकती।

Claim and Duty are correlatives and in the sense that one cannot exist without the other'

अब हम स्वतन्त्रता (Liberty) शब्द को लेते है—स्वतन्त्रता (Liberty) हमारा अधिकार अवश्य है पर अनिवार्यतः दूसरे पर कोई सम्बन्धित कर्त्तव्य आरोपित नही करता है।

' Liberty represents what I can do for my self, free of the possibility of legal interference by others I have liberty to walk in my own fields to play golf on my private links Here no precise relationship to others is in question, save that the law will protect my liberty if others interfere with its exercise But it is

more accurate to say that a liberty to play than that I have a claim, for I may exercise my liberty without affecting others, whereas my Claim can be inforced only by coercing another to act or for bear '

अब हम "शक्ति' (Power) पर विचार करेंगे। शक्ति (Power) का अभिप्राय सक्षमता से होता है।

A power is an ability on the part of a person to produce a change in a given legal relation by doing or not doing a given act '

इसी प्रकार उन्मुक्ति (Immunity। शब्द भी अधिकार (Right) से भिन्न है

"An immunity is a freedom on the part of one person aga inst having a given legal relation altered by a given act or ommission on the part of another person A judge immune from having to pay damages for defamation because of anything he has said in the course of a trail

वैधानिक अधिकार की परिभाषा (Defination of Legal Right)

वैधानिक अधिकार के स्पष्टीकरण के हेतु कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करना आवश्यक है

(1) ऑस्टिन (Austin) आस्टिन के विचार से अधिकार एक क्षमता है जो किसी विधि के अन्तर्गत किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में निहीत रहती है और अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह उस क्षमता के लिए कर्त्तव्य करते हैं। ऑस्टिन लिखते है कि "एक व्यक्ति उस समय अधिकार रखता है जब दूसरा या व्यक्ति ऐसे व्यक्ति के लिए विधि के द्वारा कुछ काम करने या कुछ काम करने के लिए बाध्य होते हैं।"[1] यह परिभाषा आस्टिन की प्रभुसत्ता तथा विधि की परिभाषा से सम्बद्ध है। इसी दृष्टि से आस्टिन कर्त्तव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह एक उत्तरदायित्व है जो आदेश का पालन न करने पर इसके साथ सम्बद्ध

1 A person has a right when another or other are bound or obliged by law to do or forbear towards or in regard of him

—Austin

अनुमति के कारण दण्ड का भागीदार बनता है। ऑस्टिन के विचार से जिस व्यक्ति के पक्ष में आदेश लागू किया जाता है वह व्यक्ति ही अधिकार रखता है।

मिल महोदय ऑस्टिन की परिभाषा की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि ऑस्टिन के विचार से अधिकार एक क्षमता है अर्थात् यह विधि द्वारा एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए दी गई शक्ति या सत्ता है। इस दृष्टि से जेलर (Jailor) अपराधी को फाँसी देने के लिए विधि के द्वारा बाध्य है। ठीक इसी प्रकार कहा जा सकता है कि बंदी को यह अधिकार है कि उसे फाँसी दी जाय। परन्तु यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि बन्दी को यह अधिकार है कि उसे फाँसी दी जाय। मिल के विचार से इस प्रकार का दोष हटाने के लिए यह आवश्यक है कि परिभाषा में इस प्रकार का अधिकार रखने वाले व्यक्ति को होने वाले लाभ या हित को भी सम्मिलित कर लिया जाय। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो मिल की आलोचना पूर्णतया निराधार है। जेलर जो विधि के अन्तर्गत बन्दी को फाँसी देने के लिए बाध्य हैं अपराधी के प्रति कर्तव्य नहीं करता, वरन् वह उस व्यक्ति के प्रति कर्तव्य करता है जिसके आदेश के कारण वह फाँसी दे रहा है। अतएव अपराधी में तदनुकूल अधिकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मिल ने वास्तव में ऑस्टिन के विचार को ठीक प्रकार से समझा ही नहीं है। फिर भी मिल का कहना है कि अधिकार के साथ हित की भावना सम्बद्ध रहे उचित ही है।

(2) हालैंड (Holland)—हालैंड के अनुसार वैधानिक अधिकार "एक क्षमता है जो किसी व्यक्ति में राज्य की सहमति तथा सहयोग से दूसरे व्यक्तियों के कार्यों को नियन्त्रित करने में निहित होती है।" हालैंड आगे कहते हैं कि वैधानिक अधिकार को शक्ति से वैधानिकता प्राप्त होती है। यह शक्ति राज्य लागू करता है। हालैंड अपनी परिभाषा को शक्ति तथा नैतिक अधिकार से पृथक बताते हैं। उनका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी शक्ति या अनुनय (Persuasion) के द्वारा चाहे अपने कार्यों से या चाहे दूसरे के कार्यों को प्रभावित करने से अपनी इच्छा को लागू कर सकता है तो कहा जायगा कि उसे अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए शक्ति प्राप्त है।

Legal right is a capacity residing in one man of controlling with the assent and assistance of the state the action of others

इसी प्रकार यदि वह शक्ति से पृथक् सामाजिक अनुमति को अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए पक्ष में और इस इच्छा की पूर्ति में आने वाली बाधाओं को दूर कर लेता है तो कहा जायगा कि उसे अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए

अधिकार' प्राप्त है। परन्तु शक्ति तथा नैतिक अधिकार से पृथक यदि किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त है, साथ ही राज्य उस इच्छा की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों को कार्य करने या कुछ कार्यों को न करने के लिए बाध्य करता है तो कहा जायगा कि उसे वैधानिक अधिकार' प्राप्त है।

इस परिभाषा से ज्ञात होता है कि हालैण्ड ने ऑस्टिन की ही परिभाषा को माना है। इन्होंने क्षमता के लिए ऑस्टिन के faculty' शब्द के स्थान पर capacity' शब्द रखा है। हालैंड की परिभाषा में दो बातों पर विशेष जोर दिया गया है। पहली तो यह कि वैधानिक अधिकार अधिकारवान् व्यक्ति में निहित क्षमता या शक्ति होती है। दूसरी यह कि यह क्षमता या शक्ति अधिकारवान् व्यक्ति को राज्य द्वारा दी जाती है। अतएव वैधानिक अधिकार की रचना के लिए यह आवश्यक है कि इसके पीछे राज्य की शक्ति संलग्न हो।

ग्रे (Gray)—ग्रे भी हालैंड की ही भाँति शक्ति या क्षमता पर जोर देते हैं। यह वैधानिक अधिकार की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि यह 'वह शक्ति है जिससे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को किसी कार्य या कार्यों को करने या न करने के लिए उस सीमा तक बाध्य कर सकता है जहाँ तक कि समाज से उसे यह शक्ति उन व्यक्ति या व्यक्तियों पर वैधानिक कर्तव्य लागू करते हुए प्राप्त होती है।'[1] ग्रे मानते हैं कि अधिकार स्वयं एक हित नहीं यह एक साधन है जिससे हित (Interest) का उपयोग किया जाता है। अतएव वह शक्ति जिसके आधार पर एक व्यक्ति किसी विषय पर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए न्यायालय की मदद ले सकता है वैधानिक अधिकार होता है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति दूसरे को कुछ ऋण देता है तो ऋणदाता का हित (Interest) है कि वह ऋण लेने वाले से अपने धन को वापस प्राप्त करे। यहाँ पर वैधानिक अधिकार यही नहीं कि वह अपना धन वापस प्राप्त करे वरन् उसको विधान द्वारा दी गई शक्ति, क्षमता थी, सत्ता वैधानिक अधिकार है जिससे वह अपना धन वसूल कर सकता है। ऋण लेने वाले से धन वापस पाना हित है जो विधि द्वारा संरक्षित

---

1 Legal right is 'that power which a man has to make a person or Persons do or refrain from doing a certain act or certain acts so far as the pow r arises from society imposing a legal duty upto a person ' —Gray

है। परन्तु यह हित ही वैधानिक अधिकार नहीं। यह केवल वैधानिक अधिकार का उद्देश्य है। वैधानिक अधिकार तो केवल क्षमता या शक्ति है।

सामण्ड (Salmond)—सामण्ड के विचार से 'अधिकार एक हित है जो कि अधिकार के नियमों द्वारा माना जाता है और सुरक्षित होता है। हित का तात्पर्य उन सभी प्रकार के हितों से है जिनका सम्मान करना कर्त्तव्य कहलाता है और तिरस्कार करना अपकार कहलाता है।"[1] इस परिभाषा में 'अधिकार के नियमों' से तात्पर्य विधि के नियम से है। किसी हित को अधिकार बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसको केवल वैधानिक संरक्षण ही न प्राप्त हो वरन् वैधानिक मान्यता भी मिली हो। यह कहा जा सकता है कि जानवरों के हित को विधि द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है क्योंकि कोई भी व्यक्ति उनके साथ कठोरता का व्यवहार नहीं कर सकता परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि जानवरों को वैधानिक अधिकार प्राप्त है ऐसे विषयों में विधि जिस अधिकार या हित का संरक्षण या मान्यता प्रदान करती है वह समस्त समाज का अधिकार या हित होता है, क्योंकि समाज जानवरों के साथ कठोरता का व्यवहार करना उचित नहीं समझता। यदि कोई व्यक्ति किसी बच्चे के साथ कठोरता का व्यवहार करता है तो वह उस बच्चे के अधिकार के प्रति अपने कर्तव्य का उल्लंघन करता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी कुत्ते के साथ कठोरता का व्यवहार करता है तो वह कुत्ते को प्राप्त किसी अधिकार के प्रति अपने कर्तव्य का उल्लंघन नहीं करता वरन् वह किसी समाज या राज्य के प्रति होने वाले अपने कर्तव्य का उल्लंघन करता है। उसके इस कर्तव्य के साथ ही समाज या राज्य में अधिकार निहित होता है।

सामण्ड का यह कहना कि अधिकार को वैधानिक मान्यता भी प्राप्त होनी चाहिए पूर्णतया निरर्थक है, क्योंकि वैधानिक संरक्षण में वैधानिक मान्यता भी सम्मिलित होती है। विधि किसी भी वस्तु को संरक्षण नहीं प्रदान करती जब तक कि वह उस वस्तु को मान्यता नहीं प्रदान करती।

(4) इहरिंग (Ihering)—सामण्ड की तरह इहरिंग भी कहते हैं कि 'अधिकार वैधानिक रूप से सुरक्षित हित होते हैं।'[2] इनके विचार में विधि किसी

---

1 A right is an interest recognised and protected by a rule of right It is any interest respect for which is a Duty, and the disregard for which is a wrong —S

2 ' Right are legally protected interests '

उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन होती है। विधि का उद्देश्य मानव हित का संरक्षण करना होता है। परन्तु विधि सभी हितों की रक्षा नहीं करती, वरन् यह केवल कुछ हितों का संरक्षण करती है। जिन हितों का यह संरक्षण करती है वे वैधानिक अधिकार कहलाते हैं। अतएव कोई व्यक्ति उसी समय वैधानिक अधिकार रख सकता है जबकि उसमें कोई ऐसा लाभ विद्यमान हो जो राज्य द्वारा संरक्षित होता हो। इहरिंग सामण्ड के वैधानिक मान्यता के सिद्धांत को नहीं मानते। वह वैधानिक संरक्षण ही पर्याप्त समझते हैं।

(5) होम्स (Holmes)—होम्स के अनुसार 'वैधानिक अधिकार केवल-मात्र कुछ प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने तथा कुछ शर्तों पर सार्वजनिक शक्ति की मदद से संरक्षण, पुनरावर्तन या हरजाना प्राप्त करने की आज्ञा होता है।"[1] होम्स के अनुसार अधिकार एक शक्ति है। वैधानिक अधिकार व्यवहार पर लागू होने वाली वैधानिक सीमाओं को हटाने या लागू करने की शक्ति होती है।

(6) विनोग्रेडाफ(Vinogradoff)—इनके अनुसार "विधि के द्वारा स्थापित सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक विशिष्ट इच्छा से सम्बन्धित कार्यों के क्रम को वैधानिक अधिकार कहते हैं।"[2] प्रत्येक व्यक्ति विधि के नियमों के अन्तर्गत कार्यों की असीमित स्वतन्त्रता को छोड़ देता है परन्तु इसके साथ ही अधिकार द्वारा उस कार्य की, प्रसार एवं दिशा की दृष्टि से सीमित स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। अतएव अधिकार वस्तुओं तथा व्यक्तियों के विषय में एक दृढ़ शक्ति का उपयोग होता है।

वैधानिक अधिकार सम्बन्धी सिद्धांत
(Theories about Legal Rights)

उपर्युक्त सारी परिभाषाओं का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैधानिक अधिकार के विषय में प्रमुख रूप से पाँच सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं—

---

1 Legal Right is "nothing but a permission to exercise certain natural powers and upon certain condition to obtain protection restitution or compensation by the aid of public force
—Holmes

2 "It (legal right) is the range of action assigned to a particular will within the social order established by law —Vinogradoff

(1) अधिकार राज्य द्वारा संरक्षित होता है।
(2) अधिकार मनुष्य की इच्छा के आन्तरिक गुण पर आधारित होता है।
(3) अधिकार एक हित है।
(4) दुग्वी का अधिकारहीनता का सिद्धांत।
(5) समस्तवाद का सिद्धांत।

उपर्युक्त सिद्धांतो म प्रथम तीन सिद्धांत ही अधिकार सम्बन्धी प्रमुख सिद्धांत है। अन्तिम दो सिद्धांत तो अधिकार के अस्तित्व को नही मानते। अब हम इन सभी सिद्धांतो का क्रमानुसार विवेचन करेंगे।

(1) राज्य के संरक्षण का सिद्धांत (Theory of State Protection)—इस सिद्धांत के प्रतिपादको का कहना है कि अधिकार को वैधानिक महत्व मिलने के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य की वैधानिक व्यवस्था द्वारा मान्यता एवं संरक्षण प्राप्त करे। इन लोगो का कहना है कि राज्य के संरक्षण का तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी के अधिकार का अतिक्रमण करता है तो राज्य उसके अधिकार की रक्षा करेगा। पैटन (Paton) के अनुसार वैधानिक अधिकार के लिए यह आवश्यक है कि वैधानिक व्यवस्था द्वारा उसे किया जाय। पैटन उपर्युक्त कथन के साथ तीन शर्तें जोड़ते हैं।

(क) पहली यह विधि सदा अधिकार को लागू नही करती वरन् कभी कभी प्रताड़ित व्यक्ति (Injured party) को केवल हरजाना ही दिलाती है।

(ख) दूसरा यह कि कुछ अधिकार अपूर्ण होते हैं। विधि इनको केवल मान्यता ही प्रदान करती है लागू नही करती। जैसे निर्धारित समय में भुगतान न किये जाने वाले ऋण को प्राप्त करने के अधिकार को विधि केवल मान्यता ही प्रदान करती है। यह अधिकार विधि द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। विधि द्वारा प्रदत्त मान्यता ऐसे अधिकारो म इस प्रकार व्यक्त होती है कि यदि ऋणदाता ऋण भुगतान की अवधि के पश्चात् भी ऋण लेन वाले से बिना नये प्रतिफल (Consideration) नया संविदा लिखा लेता है तो न्यायालय उस संविदा को मान्यता प्रदान करेगा।

(ग) तीसरा यह कि न्यायालय अधिकार को लागू करने के लिए कोई समुचित व्यवस्था नहीं रखते। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत न्यायालय को अपने निर्णय को लागू करने का अधिकार नही।

अतएव पैटन के अनुसार वैधानिक अधिकार के लिये आवश्यक है कि वह राज्य द्वारा मान्यता एवं संरक्षण प्राप्त करे।

(2) मानव इच्छा का सिद्धांत (Theory of Human will)—इस सिद्धांत के प्रतिपादकों का कहना है कि अधिकार मनुष्य की इच्छा का एक आंतरिक गुण है। थामस होम्स के अनुसार वैधानिक अधिकार कुछ प्राकृतिक शक्तियों को लागू करने की आज्ञा प्राप्त करना तथा राज्य की शक्ति से कुछ शर्तों पर संरक्षण, प्रत्यर्पण (Restitution), यह हरजाना प्राप्त करना है। यह परिभाषा मनुष्य की इच्छा पर ही जोर देती है। परन्तु इसमें अभाव यह है कि यह प्रत्येक अधिकार को प्राकृतिक इच्छा से सम्बन्ध करती है। वास्तव में कुछ अधिकार व्यक्ति के प्राकृतिक शक्तियों के संरक्षण से ही सम्बन्धित नहीं होते वरन् दूसरी शक्ति से भी सम्बन्धित होते हैं जो विधि की शक्ति द्वारा दूसरे व्यक्तियों को कुछ कार्य करने के लिए विवश करती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने घर में झगड़ा करता है तो विधि बाह्य हस्तक्षेप से उस व्यक्ति की रक्षा करेगी। परन्तु हम अपनी सम्पत्ति को अपनी मृत्यु के पश्चात् लोगों को देने के लिए वसीयत लिखने की जो शक्ति प्राप्त होती है वह शक्ति हमारी प्राकृतिक शक्ति या हमारे प्राकृतिक कार्य की रक्षा नहीं करती, वरन् यह एक प्रदत्त शक्ति होती है जिसकी मदद से हम अपनी सम्पत्ति का अपनी मृत्यु के पश्चात् विभाजन करा सकते हैं।

हॉलैंड भी अपनी परिभाषा में इसी सिद्धांत को व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि वैधानिक अधिकार किसी व्यक्ति में वास करने वाली क्षमता है जिससे वह व्यक्ति राज्य की मदद से दूसरे व्यक्ति के कार्यों को नियंत्रित कर सकता है।

पुक्ता का भी यही कहना है कि वैधानिक अधिकार किसी ऐसी चीज पर प्रदत्त एक शक्ति है जो उस अधिकार के माध्यम से उस अधिकार को धारण करने वाले व्यक्ति की इच्छा के अधीन की जा सकती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विधि व्यक्तियों को वैधानिक रूप से एक शक्ति प्रदान करती है जिसके द्वारा वे समाज में पारस्परिक विरोधी कामनाओं में सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।

(3) संरक्षित हित का सिद्धांत (Theory of Protected Interest)—इस सिद्धांत के प्रतिपादक प्रमुख रूप से इहरिंग हैं। उनका कहना है कि अधिकार वैधानिक रूप से संरक्षित हित होता है। वह इच्छा के औपचारिक तत्व की अपेक्षा 'हित' के भौतिक तत्व पर अधिक जोर देते हैं और कहते हैं कि विधि का उद्देश्य इसी हित की रक्षा करना है। सामण्ड का भी यही कहना है कि अधिकार नियमों द्वारा मान्य एवं संरक्षित हित है। बकलैंड (Buckland) भी इसी

सिद्धान्त के प्रतिपादक रहे हैं। उनका विचार है कि अधिकार "विधि द्वारा सुरक्षित हित या प्रत्याशा होता है।"*

इहरिंग मानव इच्छा के सिद्धात की आलोचना करते हुए कहते हैं कि विधि का उद्देश्य व्यक्तियो की व्यक्तिगत इच्छाओ का सरक्षण करना नही वरन् कुछ हितो का ही सरक्षण करना है। ये हित राज्य द्वारा निर्मित नही किये जाते, वरन् मनुष्य के स्वभाव म निहित रहते हैं। ये वास्तव म समुदाय के जीवन मे व्याप्त रहते हैं और राज्य इनमे स केवल उ ही हितों को चुन लेता है जिनको यह सरक्षित चाहता है।

हित-सिद्धात को उद्देश्य का सिद्धात (Purpose Theory) भी कहा जाता है। जब हम वधानिक अधिकारो की बात करते हैं तो हमारा तात्पय उन अधिकारो से होता है जिनकी माप पूर्ण सत्य नही होती वरन् उद्देश्य से सम्बधित रहती है और केवल यही उद्देश्य ऐसा होता है जिसे राज्य अनुमप्ति या सत्ता से विभूषित करता है और इसको लागू करने के लिए राज्य अपना शक्ति का उपयोग करता है जो कि वैधानिक अधिकारों की नीव होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक राज्य के व्यक्तियो के वैधानिक अधिकार दूसरे राज्य के व्यक्तियो के वैधानिक अधिकारो से भिन्न होगे क्योकि यह उद्देश्य प्रत्येक राज्य म जनता के अनुसार भिन्न भिन्न होता है।

उपर्युक्त सिद्धातो का सम्मिश्रण—उपयु क्त तीन सिद्धातो म पहला और तीसरा सिद्धांत तो लगभग एक ही है। पहले मे राज्य क सरक्षण पर जोर दिया गया हैं और तीसरे में राज्य द्वारा सरक्षित हित पर। परन्तु ये दोनों एक ही सिद्धांत के दो पहलू हैं। वास्तव म उपयु क्त तीन सिद्धातो मे दो ही हैं। एक तो पहला और तीसरा मिलाकर और दूसरा केवल दूसरा ही। इन दोनो सिद्धातो का एलेन ने सम्मिश्रण कर दिया है। उनका कहना है कि वैधानिक अधिकार का तत्व वधानिक रूप से सुरक्षित शक्ति ही नही, और न वधानिक रूप म सरक्षित हित ही है वरन् वह हित को प्राप्त करने के लिए वैधानिक रूप से सुरक्षित शक्ति है। इसी प्रकार जलनिक (Jallinek) का कहना है कि अधिकार व्यक्ति की ऐसी इच्छा शक्ति है जो वैधानिक व्यवस्था द्वारा सरक्षित एव मा य उपयोगिता या हित के लिए लागू की जाती है।

---

* 'Legal right is an interest or an expectation guaranteed by Law'

जाती है। मानव इच्छा वास्तव मे शून्य मे काम नही करती वरन् इसके लिए किसी उद्देश्य की प्राप्ति आवश्यक है, और हित भी मानव-इच्छा का उद्देश्य होते हैं।

(4) अधिकार हीनता का सिद्धांत (Absence of Right theory) दुग्वी ने विधि शास्त्र के सभी तत्वों को अपने अनोखे ढंग से परिभाषित किया है। अधिकार के विषय में वह कहते हैं कि अधिकार होते ही नहीं, केवल कर्तव्य-कर्तव्य ही करने पड़ते है। दुग्वी का कहना है कि मानव-इच्छा वह स्रोत नहीं जिससे विधि का निर्माण होता है वरन् विधि का स्रोत सामाजिक अन्योन्याश्रितता (Social Solidarity) है। इनका कहना है कि मानव इच्छा का सिद्धांत असामाजिक है क्योंकि इनके अनुसार मनुष्य मनुष्य मे संघर्ष है। वास्तव मे सभी व्यक्तियों को सामाजिक अन्योन्याश्रितता अनुसार कर्तव्य ही करने पड़ते हैं अधिकारों का उपभोग नही। अतएव समाज मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए केवल कर्तव्यों की रचना करना है, अधिकारों की नही।

दुग्वी का कहना है कि अधिकार का तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति की इच्छा समाज मे वैज्ञानिक मीमांसा के अन्तर्गत अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों की इच्छा पर अपना उद्देश्य लागू करती है। इसका अर्थ यह है कि समाज मे आमने सामने दो इच्छायें खड़ी हैं और एक व्यक्ति की इच्छा दूसरे की इच्छा की अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ है। इस प्रकार की काल्पनिक व्यवस्था (Metaphysical System) का विचार वास्तविकतावादी युग मे पूर्णतया असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति वास्तव मे केवल अपने कर्तव्य ही करता है, उसे अधिकारों की याचना करने का अधिकार नही। दुग्वी महोदय के विचार से अधिकार शब्द को ही विधि शब्दकोश से निकाल दिया जाना चाहिए। क्योंकि यह अनैतिक अराजक तथा असामाजिक है।

दुग्वी के इस सिद्धांत की बड़ी आलोचना की गई है। एडवर्ड जेन्क्स (Edward Jenks) का कहना है कि राज्य का यह प्रमुख कार्य है कि वह अपनी शक्ति के प्रयोग से कर्तव्यों को पूरा कराये। परन्तु कर्तव्य का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध जब कोई अन्य व्यक्ति उस कर्तव्य से सम्बन्धित अनुशास्ति (Sanction) का राज्य के माध्यम से उस व्यक्ति के ऊपर लागू करता है, अर्थात् दण्डित कराता है। तो दण्डित व्यक्ति मे कर्तव्य पालन निहित होता है और दण्डित करने वाले व्यक्ति मे कर्तव्य-पालन कराने की शक्ति। इस शक्ति को ही न्याय-शास्त्री वैधानिक अधिकार कहते हैं। अतएव दुग्वी का कथन आत्म विरोधी है। प्रो. लास्की ने दुग्वी के कथन को बड़े ही रोचक शब्दों मे अनुचित बताया है। उनके

प्रनुमार दुग्वी का विचार "वास्तविक नहीं वरन् शाब्दिक" है यह व्यक्ति का कतव्य है कि वह सामाजिक प्र योन्याश्रितता के विकास के लिए भरसक प्रयत्न करे।

(5) समस्तवाद का सिद्धा त (Totalitarian Theory)—इस सिद्धात के प्रतिपादको का कहना है कि व्यक्ति का कतव्य राज्य के हित के लिए प्रपने कतव्यो को पूरा करना है। व्यक्ति का राज्य क सम्मुख कोई ग्रस्तित्व नहीं। राज्य की इच्छा के सामने व्यक्ति की इच्छा का कोई भी महत्व नही। व्यक्ति केवल मात्र एक मूदयता है ग्रोर राज्य वास्तविकता। वास्तविक के लिए सूक्ष्म का न्योछा वर हो जाना ही श्रेयस्कर है। ग्रतएव सारी शक्ति राज्य मे ही निहित होती है, व्यक्ति मे नही। व्यक्ति को कोई भी ग्रधिकार प्राप्त नही होते।

वधानिक प्रधिकार के तत्व
(Elements of Legal Right)

एक वैधानिक प्रधिकार म सामण्ड के विचार से निम्नलिखित पाच तत्व या लक्षण होते हैं—

(1) प्रधिकार का धारणकर्ता (Subject of a legal right or person of inherence)—यह वह वधानिक व्यक्ति (Legal per son) होता है जिसमे प्रधिकार निहित होता है प्रर्थात् जिसे प्रधिकार का उपयोग करने की क्षमता प्राप्त होती है। यह व्यक्ति निश्चित् हो नहीं अनिश्चित् भी हो सकता है। समस्त समाज या भविष्य मे पदा होने वाला बच्चा भी प्रधिकार धारणकर्ता हो सकता है। इसके लिये केवल यह ग्रावश्यक है कि प्रधिकार धारण-कर्ता वैधानिक व्यक्ति हो प्रर्थात् ऐसा व्यक्ति हो जिसे विधि मान्यता प्रदान करती हो।

(2) ग्रधिकार के प्रति कत्तव्य करने वाला व्यक्ति (Person of incidence)—यह वह व्यक्ति होता है जिसे ग्रधिकार के प्रति या तो कुछ काय करने पडने है या कुछ कार्यों को न करने क लिये बाध्य होना पडता है। प्रधिकार का भार वास्तव मे इसे वहन करना पडता है।

(3) ग्रधिकार का परिणाम (Content of right)—जब किसी एक व्यक्ति को ग्रधिकार दिया जाता है तो ग्रन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को इस प्रधिकार के लिए या तो कुछ काय करने पडते है या कुछ कार्यों का करने से ग्रपने को रोकना पडता है। इस प्रकार के काय या काय निषेध ग्रधिकार का परिणाम कहलाते है।

(4) अधिकार का विषय (Subject or object of right)—यह वह वस्तु या विषय होता है जिसके लिये अधिकार-धारणकर्ता को अधिकार दिया जाता है। अधिकार का विषय निश्चित् दोनो हो सकता है। जस किसी की ख्याति भी उसके अधिकार का विषय हो सकता है।

(5) स्वत्व (Title)—प्रत्येक अधिकार के लिये स्वत्व आवश्यक है। स्वत्व से तात्पर्य उन तथ्यो एव घटनाओ से है जिनके कारण इनके स्वामी में अधिकार वास करता है।

उपयुक्त पाँचो तत्वो को एक उदाहरण से समझाया जा सकता है। जसे मान लें कि मोहन सोहन से कुछ जमीन खरीदता है। यहाँ मोहन अधिकार धारणकर्ता है और सारे लोग जो मोहन के इस अधिकार से बाध्य हैं, अधिकार के प्रति कर्तव्य करने वाले व्यक्ति है। मोहन के अधिकार मे हस्तक्षेप न करने की क्रिया अधिकार का परिणाम है और खरीदी जाने वाली जमीन अधिकार का विषय है। अधिकार का स्वत्व भूमि का हस्तातर है जिसके द्वारा मोहन ने सोहन से भूमि प्राप्त की है।

हालण्ड उपयुक्त तत्वो मे से केवल चार को ही व्यक्त करते हैं, स्वत्व को नही। कीटन भी चार ही तत्वो को मानते है। सामण्ड ही केवल स्वत्व को अधिकार का तत्व मानते हैं। परन्तु वास्तव मे यह तत्व नही, वरन् अधिकार का साक्ष्य या स्रोत है।

क्या बिना स्वामी के अधिकार सम्भव है ?
(Can there be an Ownerless Right ?)

बिना वस्तु के कोई अधिकार ही नही हो सकता। बिना स्वामी के भी कोई अधिकार सम्भव नही।

(1) बिना वस्तु के अधिकार (Right without an object)—हालैण्ड के विचार से अधिकार की वस्तु या विषय केवल भौतिक वस्तु ही हो सकती है सूक्ष्म नही। इनके विचार से अधिकार के लिये वस्तु का होना आवश्यक नही जैसे आत्म रक्षा के अधिकार में कुछ भी अधिकार का विषय नही। परन्तु सामण्ड के विचार से वस्तु या विषय आवश्यक है। यह विषय भौतिक तथा सूक्ष्म दोनो मे से किसी भी प्रकार का हो सकता है। भौतिक विषयो मे तो भूमि इत्यादि पार्थिव वस्तुए सम्मिलित हैं और सूक्ष्म मे सेवा ख्याति, समय शक्ति इत्यादि। यदि कोई एक नौकर रखता है तो स्वामी का यह अधिकार है कि वह नौकर की सेवाए प्राप्त

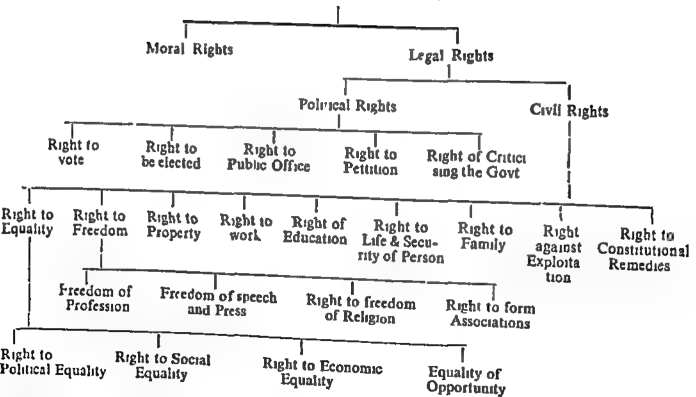
करे। यहाँ नौकर की सेवा ही मालिक के अधिकार की वस्तु है, नौकर स्वयं नहीं, सामण्ड के विचार से वस्तु के बिना अधिकार की कल्पना ही नहीं जा सकती।

(2) बिना स्वामी के अधिकार (Right without owner)—सामण्ड के विचार से अधिकार के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसमें वह अधिकार वास करे। विधि इसी अधिकार-धारणकर्ता के हित की रक्षा करता है। अतएव बिना स्वामी के अधिकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह अवश्य सम्भव है कि स्वामी निश्चित् न होकर कोई अनिश्चित व्यक्ति ही हो। जैसे परोपकारी न्यास (Charitable Trust) में सारा समाज ही अधिकार धारण-कर्ता हो सकता है। इसी प्रकार वसीयत लिखे बिना ही मर जाने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति पर उस समय तक सरकारी प्रशासकों का ही अधिकार रहता है जब तक कि कोई उत्तराधिकारी नहीं चुन लिया जाता। परन्तु सरकारी अधिकारी भावी उत्तराधिकारी की ओर से ही अधिकार धारण करते हैं।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि अधिकार न तो बिना स्वामी के ही हो सकता है और न बिना वस्तु के ही।

अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Rights)—वैसे अधिकारों की कोई निश्चित् सूची बनाना या उनका वर्गीकरण करना कठिन कार्य है, परन्तु फिर भी कुछ अधिकार ऐसे होते हैं जो प्रायः सभी राज्यों के नागरिकों को प्राप्त होते हैं। अधिकारों से तात्पर्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन सुविधाओं से होता है, जो व्यक्तित्व के विकास में सहायक होते हैं। इन अधिकारों के उपयोग से नागरिक अपना जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बना सकते हैं। साधारणतः अधिकारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। (1) नैतिक अधिकार (Moral Rights) और कानूनी अधिकार (Legal Rights)

(१) नैतिक अधिकार (Moral Rights)—नैतिक अधिकार वे होते हैं जिनका सबंध मानव के नैतिक आचरण से होता है। प्रायः ये अधिकार राज्य द्वारा सुरक्षित नहीं रह पाते क्योंकि इन्हें मानना या न मानना व्यक्तिगत इच्छा पर ही निर्भर करता है। राज्य के कानून का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है, अतः इनके उल्लंघन करने पर किसी भी प्रकार का राज्य द्वारा दण्ड भी नहीं मिलता है। ये केवल धर्मशास्त्र, जनमत या जनता की आत्मिक चेतना द्वारा स्वीकार किया जाता है।


Classification of Rights
Moral Rights
Legal Rights
Political Rights
Civil Rights
Right to vote
Right to be elected
Right to Public Office
Right to Petition
Right of Criticising the Govt
Right to Equality
Right to Freedom
Right to Property
Right to work
Right of Education
Right to Life & Security of Person
Right to Family
Right against Exploitation
Right to Constitutional Remedies
Freedom of Profession
Freedom of speech and Press
Right to freedom of Religion
Right to form Associations
Right to Political Equality
Right to Social Equality
Right to Economic Equality
Equality of Opportunity

(2) कानूनी अधिकार (Legal Rights)—कानूनी अधिकार, का तात्पर्य लीकॉक के शब्दों में यह होता है,— 'उन विशेषाधिकारों को कानूनी अधिकार की संज्ञा दी जा सकती है, जो एक नागरिक को अन्य साथी नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होता है, जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किये जाते हैं और जिनकी रक्षा राज्य द्वारा की जाती है।" ये अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू किये जाते हैं। सामाजिक विकास होने के साथ साथ इन अधिकारों में भी वृद्धि होती रहती है।

राजनीतिक अधिकार (Political Rights)—राजनीतिक अधिकार संविधान की देन होते हैं, और राज्य के नियम उनको मान्यता प्रदान करते है। राजनीतिक अधिकार केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त होते हैं जिन्हें राज्य अपनी प्रभुशक्ति की नियान्वित सौंपता है। कोई भी राज्य विदेशियों को राजनीतिक अधिकार नहीं देता है। राजनीतिक अधिकारों द्वारा नागरिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन संचालन में भाग ले सकता है।

(1) मत देने का अधिकार—मतदान देने का अधिकार प्रजातन्त्र की मौलिक उपज है। नागरिक चाहे किसी जाति धर्म या वंश के हों यदि वयस्क हैं तो मतदान में भाग लेकर अपने प्रतिनिधियों को चुन कर शासन के संचालन के लिए भेजते हैं।

(2) सरकारी पद ग्रहण करने का अधिकार—प्रत्येक व्यक्ति को बिना भेदभाव तथा पक्षपात के राज्य के अन्तर्गत पद प्राप्त करने की सुविधा रहती है। भारतीय संविधान की धारा 16(1) के अन्तर्गत धर्म, नस्ल जाति, लिंग, भेद वंश जन्मस्थान के आधार पर राज्य में किसी को कोई पद ग्रहण करने से वंचित नहीं किया जा सकता है।

(3) आवेदन पत्र देने का अधिकार—लोकतन्त्र में शासन वर्ग जन-साधारण की शिकायतों की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि अंतिम प्रभुसत्ता जनता में ही निवास करती है। इसलिए सरकार का कर्त्तव्य है कि वह जनसाधारण की शिकायतों के प्रति जागरूक रहे और उनको दूर करने का प्रयत्न करे।

(4) निर्वाचित होने का अधिकार—प्रजातन्त्र में सरकार जनता की, जनता के लिए तथा जनता के द्वारा होती है। अतः निर्वाचित होने का अधिकार एक महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार होता है। प्रतिनिधियों के उत्तरदायित्व बहुत विशाल और व्यापक होते हैं। अतः उनके निर्वाचन में सावधानी बरतनी चाहिए।

(5) सरकार की आलोचना करने का अधिकार—जो सरकार प्रशासन और नीतियों की आलोचना का जितना अधिक अवसर प्रदान करती है, वह सरकार उतना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक होती है।

(2) असैनिक अधिकार (Civil Rights)—

(1) समानता का असैनिक अधिकार—इस अधिकार से अभिप्राय यह है कि एक मनुष्य होने के नाते उसके एवं दूसर मनुष्यों के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं रखा जायगा। सभी मनुष्यों को उन्नति के समान अवसर प्रदान किये जायेंगे। किसी भी व्यक्ति के साथ जाति, लिंग, धर्म, रंग के आधार पर भेदभाव नहीं रखा जायगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में घोषणा की गई है कि— 'भारत के राज्य क्षेत्र में राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता अथवा कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा। यह धारा समस्त व्यक्तियों को चाहे वे नागरिक हैं या नहीं, कानून के समक्ष समानता की गारन्टी देती है। समानता का अधिकार न केवल विधान मण्डलों द्वारा पारित भेदभावपूर्ण कानूनों से रक्षा करता है बल्कि कार्यपालिका की निरंकुशता पर भी यह एक अंकुश है। समानता के मुख्य चार आधार होते हैं (1) सामाजिक समानता, (2) राजनैतिक समानता, (3) आर्थिक समानता और (4) अवसर की समानता। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 16 के अनुसार— प्रत्येक नागरिक को राज्य में नौकरी करने, आजीविका कमाने तथा पद ग्रहण करने का समान अधिकार प्राप्त है। किसी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान व निवास स्थान आदि इनमें से किसी एक के आधार पर राज्य पद के लिए अपात्र (Ineligle) नहीं ठहराया जा सकता।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार—स्वतन्त्रता के अधिकार के बिना मनुष्य के व्यक्तित्व तथा समाज का विकास नहीं हो सकता। अतः स्वतन्त्रता ही जीवन की आवश्यक तत्व बन गई है प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। किसी को किसी अन्य व्यक्ति पर आघात करने, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्ति का उपयोग करने तथा किसी के रहने पर रोक लगाने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

जब तक किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति के अधिकारों से क्षति नहीं पहुँचती, तब तक उसे इच्छानुसार कार्य करने और घूमने फिरने की स्वतन्त्रता प्राप्त होना उचित है। प्रत्येक व्यक्ति जो चाहे भाषण दे तब तक कोई प्रतिबंध नहीं

लगाया जा सकता, जब तक उसके द्वारा औरो के समान अधिकारो म हस्तक्षेप न हो। मानव को किसी धर्म के मानने तथा उसके प्रचार करने की स्वतन्त्रता होती है। उसकी इच्छा के विरुद्ध उस पर कोई धर्म नही लादा जा सकता। इसके अतिरिक्त मानव को अपने समान विचार वाले व्यक्तियो के साथ सगठन बना कर उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र म उन्नति करने तथा राजनीति मे भाग लेने के लिए समुदाय बना सकता है। मानव को यह अधिकार है कि समाज विरोधी तथा अनैतिक समुदायो को छोड कर कोई भी अन्य समुदाय बना सके। व्यक्ति के इस स्वतन्त्रता का आधार भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है, सामुदायिक सगठनो द्वारा ही व्यक्ति अपनी सर्वमुखी उन्नति कर सकता है। भारतीय सविधान म सभी नागरिको को स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार प्रदान करने की सुनिश्चित व्यवस्था सविधान की 19 से 22 तक धाराओ म रखी गई है। सविधान की धारा 19 के अनुसार— प्रत्येक नागरिक को वाक स्वतन्त्र एव अभिव्यक्त स्वतन्त्र शातिपूर्ण ढग से अथवा अस्त्रादि लिए बिना एक स्थान पर एकत्र होने, सस्थाए व सगठन स्थापित करने भारत की सीमा म अबाधरूप से सचरण करने भारत के किसी भी भाग म रहने अथवा बसने, सम्पति रखने तथा बेचने और कोई भी व्यवसाय करने का अधिकार प्राप्त है।"

(3) सम्पत्ति का अधिकार—सम्पति का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी सम्पति के स्वतन्त्रता पूर्वक भोग करने का अधिकार प्रदान करता है। एक व्यक्ति अपनी सम्पति को किसी भी रूप म रख सकता है। किसी को दान दे सकता है अथवा व्यय कर सकता है। इस अधिकार द्वारा व्यक्ति को यह आश्वासन प्रदान किया जाता है कि जमीन जायदाद, या धन बिना मुआवजा दिये उससे नही छीना जा सकता। भारतीय सविधान भी नागरिको को अनुच्छेद 31 मे व्यक्तियो को सम्पति का अधिकार देता है। 'कोई भी व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना निजी सम्पत्ति से वचित नही किया जावेगा।

(4) रोजगार का अधिकार—आधुनिक युग म व्यक्ति का काम करने तथा जीविका कमाने का अधिकार बहुत महत्व रखता है। अपनी इच्छानुसार आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य को काम करना चाहिए। प्रो लास्की के अनुसार— अपना सर्वोत्तम स्वरूप प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को काम करना चाहिए और काम के अभाव म उसे तब तक सुविधा मिलनी चाहिए जब तक किसी व्यवसाय म उसे पुन काम करने का अवसर प्राप्त न हो। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को केवल काम करने का ही अधिकार नही है, अपितु उसे यह भी अधिकार

है कि उस अपने काम के लिए उपयुक्त मजदूरी मिले।"[1] समाजवादी देशों ने जिसमें रूस तथा चीन आदि सम्मिलित है, इस अधिकार को विशेष महत्व दिया है। प्रथम सोवियत संविधान (1918) में यह कहा गया था कि—"श्रम सभी नागरिकों का अनिवार्य कर्त्तव्य है।" नये संविधान की धारा 118 के द्वारा USSR के समस्त नागरिकों को काम का अधिकार दिया गया है। काम केवल अनिवार्य कर्त्तव्य ही नहीं बल्कि आदर का विषय होता है। जो व्यक्ति काम नहीं करेगा उसे खाना भी नहीं मिलेगा। इसी तरह भारतीय संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में राज्य को यह काम सौंपा गया है कि वह नागरिकों के लिये रोजगार की उचित व्यवस्था करें।

(5) शिक्षा का अधिकार—आधुनिक सभ्य संसार में प्रत्येक उन्नतिशील राष्ट्र अपने नागरिकों को उत्तम शिक्षा पाने का अधिकार प्रदान करता है। शिक्षा के अभाव में नागरिकों में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सांस्कृतिक जागृति नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। लास्की के अनुसार—"शक्ति उन लोगों के हाथों में आती हैं जो विचारों का निर्माण कर सकते हैं, और उसके सार को ग्रहण कर सकते हैं। एक अशिक्षित व्यक्ति न तो राजनीति को समझ सकता है न ही वह अपने हितों को ही समझ सकता है।" भारतीय संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के अध्याय में राज्य का कर्त्तव्य बताया गया है कि चौदह वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।

(6) जीवन सुरक्षा का अधिकार—यह अधिकार मौलिक और आधारभूत है, क्योंकि इसके बिना अन्य अधिकार असंभव है। यह अधिकाधिक व्यक्ति के जीवन के मूल्य की ओर संकेत करता है। इसके अन्तर्गत मानव जीवन को राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है। भारतीय संविधान की धारा 21 में जीवन तथा स्वातन्त्र्य का संरक्षण व धारा 22 में बन्दीकरण तथा नजरबन्दी से बचाव का उल्लेख किया गया है।

(7) परिवार का अधिकार—जीवन के अधिकार से बहुत अधिक सम्बन्धित स्वतन्त्रता पूर्वक पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। राज्य द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को विवाह करके परिवार बनाने और बच्चों का पालन पोषण करने का अधिकार दिया है। यौन सम्बन्ध की भावना मानव में प्रारम्भ से ही पाई

1 (Grammar of Politics p 106) Laski

जाती है, और इसी भावना को पूर्ण करने के लिए परिवार जैसी पवित्र भावना का जन्म होता है।

(8) **शोषण से मुक्ति पाने का अधिकार**—भारतीय सविधान के अनुच्छेद 23 व 24 का सम्बन्ध शोषण से मुक्ति पाने के अधिकार से है। इसके अन्तर्गत मानव के क्रय विक्रय और बेगार तथा जबरदस्ती काम करवाने की मनाही कर दी गई है। इसके अतिरिक्त 10 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को कारखानों या किसी खतरनाक काम में लगाने का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त वैश्यावृत्ति आदि के सुधार की बात भी इस अधिकार में सम्मिलित है।

(9) **सांवधानिक उपचारों का अधिकार**—भारतीय सविधान की धारा 32 में सावधानिक उपचारों के अधिकारों का भी उपबध करती है, जिनके द्वारा मौलिक अधिकारों को परिवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय में कोई भी नागरिक जा सकता है। इस अनुच्छेद की व्याख्या करते हुए डा अम्बेडकर ने सविधान सभा में इस प्रकार कहा था— यदि मुझसे कोई पूछे कि सविधान का कौन सा अनुच्छेद है जिसके बिना सविधान शून्य हो जायगा। तो इस अनुच्छेद को छोड़ कर मैं और किसी अनुच्छेद की ओर सकेत नहीं करता। यह तो सविधान का हृदय तथा आत्मा है।"

सावैधानिक उपचारों का अधिकार किसी घोषित सकट काल को छोड़ कर कभी भी स्थगित नहीं किया जा सकता। सविधान की धारा 32 के अनुसार—अमेरिका की भाति बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeas Corpus) जारी करने की सत्ता सविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को दी गई है। इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षण लेख (Writ of Certiorari) प्रतिबन्ध लेख, (Writ of Prohibition) परमादेश लेख (Writ of Mandamus) तथा अधिकार पृच्छालेख (Writ of Quo-warranto) आदि सम्मिलित किये गये हैं। इनके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उनके मौलिक अधिकारों को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा जाता है।

अधिकारों का सिद्धान्त (Theories of Rights)—

(1) **प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of the Natural Rights)**—मनुष्य जीवन ही प्रकृति की देन है। मानव का विकसित मस्तिष्क जिसके द्वारा सारा सोच विचार होता है, वह भी प्रकृति से प्राप्त होना है। प्रारम्भ से ही मनुष्य मूल भूत सिद्धान्तों के लिए प्रकृति की ओर देख रहा

है। यही कारण है कि उसके प्रत्येक विचारा मे प्राकृतिक विचारा का पक्ष विद्यमान है। मनुष्य के जीवन म अधिकारो का इतना अधिक महत्व है कि कुछ अधिकार तो उसके जीवन म नितान्त आवश्यक है। इसी कारण कुछ व्यक्तियो ने तो उन्हे प्राकृतिक अधिकार कह कर पुकारा, और ऐसा मत प्रतिपादित किया कि य अधिकार उन्हे जन्म से ही प्रकृति द्वारा प्राप्त हुए हैं। इस सिद्धान्त का उदय इस विचारधारा से हुआ कि प्रकृति के समक्ष सभी एक हैं और अगर कुछ प्राकृतिक अधिकार सभी को समान रूप से प्राप्त हो जाय तो सभी लोग आनन्द पूवक जीवन व्यतीत करेंगे। लॉक के शब्दो म —"सब मनुष्य स्वतन्त्र और विवेकी पैदा होते है और समाज मे आने से पूव ही य अधिकार मनुष्य को प्राप्त होते हैं।"

प्राकृतिक अधिकारो की चर्चा सव प्रथम प्राचीन रोम म चली थी। रोमन साम्राज्य की सारी विधिया प्राकृतिक नियमो के आधार पर ही बनाई गई। यूनान की प्राचीन सभ्यता मे ही विचारको ने प्रकृति म सुनियमित व्यवस्था को देख कर उसे मानव के राजनीतिक सामाजिक और नतिक जीवन म ढालने की दिशा मे अपने विचार प्रस्तुत किये। स्टोइक विचारको ने यहा तक कहा है कि शुभ जीवन व्यतीत करने के लिए प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। सत्रहवी शताब्दी म ह्यूगो ग्रोटियस(1583 1645) जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का शिलान्यास युद्ध और शाति के कानून पर नामक पुस्तक लिख कर किया तो भी उन्होने उसका आधार प्राकृतिक कानून ही बनाया। इस सिद्धात का विकास हाब्स लाक और रूसो क समय मे बहुत अधिक हुआ। हाब्स के विचार म प्राकृतिक अधिकार एक व्यक्ति का व्यक्तिगत शारीरिक बल था जिसकी सहायता से वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता था। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के मानने वालो ने इसे व्यक्ति के अधिकारो की उत्पत्ति का मूल मन्त्र माना है। वर्जीनिया के विधान की घोषणानुसार— 'सब मनुष्य स्वभाव स ही समान रूप मे स्वतन्त्र और ब धनहीन होते हैं। उनके कुछ जन्म जात अधिकार होते हैं।[1]

इसी तरह से फ्रास भी अपने घोषणा पत्र म स्वतन्त्रता समानता, सम्पत्ति और सुरक्षा को मानव के मुख्य प्राकृतिक अधिकार स्वीकार करता है।

हाल ही मे समाज शास्त्र के विद्वानो ने प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धात को एक नया अर्थ दिया है। वे पूणतया इस भावना को अस्वीकार करते है कि प्राकृ-

---

1 All men one by nature equally free and independent and have certain inherent rights —The Constitution of Virginia

तिक अधिकार वे हैं जो मनुष्य के प्रारम्भिक समाज में थे जब राज्य की स्थापना हुई थी। उनका मत है कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्य की वे सुविधाएं और स्वतन्त्रताएं हैं जो सामाजिक शरीर रचना के शीघ्र विकास और सुचारु रूपेण कार्य करने के लिए नितान्त आवश्यक हैं। जो कुछ प्राकृतिक है उसे मनुष्य के विकास और अस्तित्व की अनिवार्य अवस्थाओं के अनुकूल होना चाहिए। प्रो० गिडिंग्स (Prof Giddings) के अनुसार प्राकृतिक अधिकार सामाजिक रूप में अधिकार के अव्यक्त रूप हैं जिन्हें सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में प्राकृतिक चयन द्वारा जारी किया जाता है और दीर्घकाल में एम वध या नैतिक अधिकार हो ही नहीं सकते हैं जो इस प्रकार परिभाषित रूप में प्राकृतिक अधिकारों में समाविष्ट नहीं होते।

(2) कानूनी अधिकारों का सिद्धान्त (The legal Theory of Rights)—अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त के अनुसार अधिकार राज्य और कानून की देन हैं। अधिकार राज्य की इच्छा अथवा कानून का ही परिणाम हैं। केवल वे ही अधिकार वास्तव में अधिकार माने जाते हैं, जिन्हें कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। जिन्हें कानून स्वीकृत नहीं करता वे अधिकार नहीं कहला सकते। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार कृत्रिम हैं प्राकृतिक या स्वाभाविक नहीं। अधिकार राज्य की इच्छा पर निर्भर रहते हैं। राज्य पुराने अधिकारों को छीन सकता है और नये अधिकारों को जन्म भी दे सकता है।

इस सिद्धान्त के समर्थकों में बेन्थम, आस्टिन, हॉब्स तथा हॉलैंड आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों के अनुसार कानूनी अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य तीन प्रकार के कार्य करता है—(1) अधिकारों की परिभाषा करना, (2) उनकी मर्यादा निर्धारित करना, (3) उनके उपभोग के आश्वासन की व्यवस्था करना। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति राज्य के विरुद्ध उसकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखता। आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है।

(3) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त (The Historical Theory of the Rights)—अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि अधिकार इतिहास की उपज है। इनका आदि स्रोत रीतिरिवाजों में है जिन्हें समाज ने व्यवहार रूप में स्वीकार किया। रीति रिवाजों का इन वर्षों से पालन करते आ रहे हैं वे ही धीरे-धीरे अधिकार बन जाते हैं।

(4) अधिकारो का समाज कल्याणकारी सिद्धान्त (The Social Welfare Theory of rights)—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार समाज द्वारा प्रदान किये जाते हैं और वे सामाजिक कल्याण के लिए होते हैं। कानून, प्राकृतिक अधिकार, रीति-रिवाज आदि सभी को सामाजिक कल्याण के समक्ष झुकना पडता है। इस सिद्धान्त के समर्थको के अनुसार समाज केवल अधिकार व्यक्तियो को समाज के कल्याण के लिए प्रदान करता है। बेन्थम तथा मिल आदि उपयोगितावादियो ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है उनके अनुसार 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' यही ध्येय यह निर्धारित करता है कि व्यक्ति के अधिकार क्या होने चाहिये। लास्की ने उपयोगिता को अधिकारो का आधार कहा है।

(5) अधिकारो का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory of the Rights)—आदर्शवादी सिद्धान्त को व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसके अनुसार अधिकार मनुष्य के आन्तरिक और वास्तविक उत्थान के लिए आवश्यक बाह्य अवस्था है। आदर्शवादी सिद्धान्त उन अवस्थाओ की उत्पत्ति पर बल देता है जो मानव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास मे सहायक होती है। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व की परिपूर्णता वह लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए सारे अधिकारो का प्रयोग होता है। अधिकारो का आदर्शवादी सिद्धान्त मनुष्य की नैतिक एवं लोकतन्त्रीय भावना को उभारता है, तथा यह अधिकारो को वैधता की अपेक्षा नैतिकता से सम्बन्धित करता है। यह मानव आत्म विकास को समाज के अधीन नही करता।

अधिकारो के स्वरूप की व्याख्या के लिए आदर्शवादी सिद्धान्त और सामाजिक कल्याण के सिद्धान्तो का सम्बन्ध सर्वोत्तम हल हो सकता है।

प्रजातान्त्रिक राज्य मे व्यक्ति के अधिकार—
(The Rights of an individual in a Democratic State)

'प्रजातन्त्र तभी सफलता पूर्वक कार्य कर सकता है जबकि प्रत्येक नागरिक अपने कर्त्तव्यों के प्रति सतर्क व अधिकारो के प्रति सतत् जागरूक हो।" यही प्रजातन्त्र की आधारशिला है। प्रजातन्त्र शासन मे जनता का जनता के द्वारा एवं जनता के लिए शासन होता है। अतः अधिकारो के प्रति जागरूकता ही प्रजातन्त्र को सफल बनाती है, इसके अतिरिक्त नागरिको को कर्त्तव्यो के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए। यद्यपि ब्रिटेन और अमेरिका मे नागरिको को भारतीयो से अधिक अधिकार प्राप्त नही है, फिर भी वहा पर प्रजातन्त्र अधिक सफलता पूर्वक कार्य

कानून का प्रभाव जरूरत से ज्यादा बढ़ाने से उसमें निरंकुशता आदि भाव जाग्रत हो जाते हैं।

अत प्रजातांत्रिक शासन में अधिकारों का होना नितान्त आवश्यक है। ये नागरिकों के लिए एक ढाल के समान है जो कि राज्य की निरंकुशता से व्यक्ति की रक्षा करते हैं। अधिकार व्यक्ति के विकास के लिए इसी प्रकार आवश्यक होते हैं जिस प्रकार कृषि के उन्नत व उपजाऊ होने के लिए खाद की आवश्यकता होती है।

कर्त्तव्य (Duty)

सामण्ड के विचारों से "कर्त्तव्य एक आभारात्मक कार्य है, अर्थात् यह ऐसा कार्य है जिसका विरोध कार्य अपकार कहलाता है।" कर्त्तव्य भी दो प्रकार के होते हैं —

(1) वैधानिक कर्त्तव्य (Legal Duty)—वैधानिक कर्त्तव्य वे होते हैं जिनके पालन न करने पर राज्य द्वारा दण्ड मिलता है। तथा ऐसे कर्त्तव्यों के पीछे राज्य के कानून की शक्ति होती है। इस प्रकार के कर्त्तव्य का विरोधी वैधानिक अपकार होता है। जैसे उत्तरप्रदेश में प्रत्येक नारी का यह वैधानिक कर्त्तव्य है कि वह वेश्यावृत्ति न करे। यदि कोई स्त्री ऐसा करती है तो वह वैधानिक अपकार करती है और उसे राज्य द्वारा दण्डित किया जा सकता है।

(2) नैतिक कर्त्तव्य (Moral Duty)—नैतिक कर्त्तव्यों का सम्बन्ध मनुष्य की नैतिक भावना, अन्तःकरण तथा उचित कार्य करने की प्रवृत्ति से होता है। इस प्रकार के कर्त्तव्यों का संरक्षण राज्य द्वारा नहीं होता। इस प्रकार के कर्त्तव्य का विरोधी नैतिक अपकार होता है। जैसे इंगलैंड में यह वैधानिक कर्त्तव्य नहीं कि कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी की अपराधिक इच्छा के प्रति जिज्ञासा रखे अतएव यह कर्त्तव्य केवल मात्र नैतिक कर्त्तव्य है। इसका उल्लंघन करने पर राज्य दण्डित नहीं कर सकता, परन्तु यह एक नैतिक अपकार (Moral wrong) माना जाता है।

परन्तु कुछ कर्त्तव्य ऐसे होते हैं जो एक ही साथ वैधानिक तथा नैतिक दोनों होते हैं। जैसे चोरी न करने का कर्त्तव्य एक ही साथ दोनों हैं।

कीटन के विचार से "किसी व्यक्ति में निहित अधिकार के हित में राज्य द्वारा कराया जाने वाला या विरोधी कार्यों को रोका जाने वाला काम कर्त्तव्य कहलाता है और उनका उल्लंघन अपकार कहलाता है।"

हिबट (Hibbert) के विचार से कत्त व्य लोगों पर लागू किय जाते हैं, ये प्रपने उद्देश्य के रूप मे चाहते हैं कि कुछ काय किये जाये और कुछ कार्यों को न किया जाय, य व्यक्तियों या वस्तुप्रो से, जो कि प्रास्टिन के विचार से इनकी प्रजा होते हैं ये सामा यरूप मे सम्बंधित होते हैं और प्रनुज्ञप्तियो द्वारा इन्हे बध-नकारी शक्ति प्राप्त होती है।

हिबट के विचार से कत्तव्य दो प्रकार के होते हैं—

(1) पूर्ण कर्त्तव्य (Absolute duty)—ये कत्तव्य उसी व्यक्ति के प्रति करने पडते हैं जो इन्हे लागू करता है प्रर्थात् राज्य के प्रति करने पडत हैं। इस प्रकार से कतव्यो का उल्लघन सामा य रूप से प्रपराध होता है और इसके उपचार रूप मे प्रपराधी को दण्डित किया जाता है।

(2) सम्बन्धित कर्त्तव्य (Relative duty)—ये कत्तव्य इनको लागू करने वाले व्यक्ति के प्रतिरिक्त प्रन्य व्यक्ति के प्रति करने पडते हैं। ये दूसरे व्यक्ति के प्रधिकारो से सम्बंधित होते हैं। इस प्रकार के कतव्य के उल्लघन को दीवानी का प्रपराध (Civil injury) कहते हैं और इसका उपचार प्राहत व्यक्ति को हरजाना या प्रतिवतन (Restitution) देने से होता है।

प्रधिकार एव कर्तव्यो का पारस्परिक सम्बध—
(Correlation of Rights and Duties)

प्रधिकार एव कत्तव्य के पारस्परिक सम्बध के विषय मे दो भिन्न भिन्न मत प्रतिपादित किए गये हैं—

(1) पहले मत के प्रतिपादको का कहना है कि प्रधिकार एव कतव्य प्रन्योन्याश्रित होते हैं। दोनो मे से किसी एक का भी दूसरे के प्रभाव मे काइ प्रस्तित्व नही हो सकता। प्रत्येक कतव्य किसी व्यक्ति के लिये किया जाता है प्रतएव इस व्यक्ति मे प्रधिकार सन्निहित होता है। इसी प्रकार प्रधिकार भी किसी व्यक्ति के विरुद्ध प्राप्त होता है प्रतएव उसमे कतव्य वास करता है। प्रत्यक प्रधिकार या कतव्य के साथ वैधानिक प्राधार का बधन (Vinculum juris) रहता है, जिसके द्वारा दो या प्रधिक व्यक्ति प्रापस मे सम्बंधित रहते हैं। सामण्ड लिखते है कि उस समय तक कतव्य हो ही नहीं सकता जब तक कि कोइ ऐसा व्यक्ति न हो जिसके लिए यह किया जाता है इसी प्रकार कोई प्रधिकार भी नहीं हो सकता जब तक कि कोई ऐसा व्यक्ति न हो जिससे इसकी प्राकाक्षा की जाय। इस मत के सामण्ड, कोटन तथा पटन हो प्रमुख प्रतिपादित है।

कहते हैं कि अधिकार तथा कर्तव्य इतने घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध है कि इनमें से किसी एक की ही कल्पना करना पिता के बिना पुत्र की कल्पना करना है।

(2) दूसरे मत के प्रतिपादकों में प्रमुख हैं ऑस्टिन। वह दो प्रकार के कर्तव्य बताते हैं—पूर्ण एवं सापेक्षिक, और उनमें भेद करते हैं। पूर्ण कर्तव्य (Aboslute Duty) वह होता है जिसका कोई सम्बन्ध अधिकार नहीं होता। सापेक्षिक कर्तव्य (Relative Duty) वह होता है जिससे अधिकार सम्बन्धित रहता है। सम्बन्धित कर्तव्य आभार प्रदान करने वाले व्यक्ति तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान के अतिरिक्त अन्य किसी निश्चित् व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति किया जाता है। पूर्ण कर्तव्य का किसी प्रकार के अधिकार से सम्बन्ध नहीं होता। एक कर्तव्य निम्न अवस्थाओं में पूर्ण हो सकता है —

(क) जब यह आदेश दिया जाय कि जिस व्यक्ति को आदेश दिया जा रहा है वह अपने ही प्रति कुछ कार्य करेगा या कुछ कार्य करने से अपने को रोकेगा, जैसे आत्म हत्या न करने का आदेश।

(ख) जब यह आदेश दिया जाय कि आभारी व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के प्रति जो भौतिक या काल्पनिक रूप से निश्चित् न हो कर्तव्य किया जाय। उदाहरणार्थ समस्त मानव–जाति या समाज के प्रति कार्य करने का आदेश।

(ग) जब यह आदेश किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति कार्य करने के लिए न हो, जैसे ईश्वर या जानवरों के प्रति कार्य करने का आदेश।

(घ) जब यह आदेश देने वाले प्रधान के प्रति ही कार्य करने के लिये हो जैसे राज्य के प्रभुसत्ता सम्पन्न प्रधान के प्रति कार्य करने का आदेश।

उपर्युक्त चारों परिस्थितियों में कर्तव्य पूर्ण होता है। इसका कोई सम्बन्धी अधिकार नहीं होता। ऐलन ऑस्टिन के इस विचार का अनुमोदन करते हैं। वह कहते हैं कि फौजदारी की विधि द्वारा लागू किये जाने वाले कर्तव्य पूर्ण होते हैं, उनका कोई सम्बन्धी कर्तव्य नहीं होता।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि अधिकार एवं कर्तव्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो विचारधारायें हैं। एक विचारधारा के अनुसार अधिकार एवं कर्तव्य का अन्योन्याश्रितता का सम्बन्ध होता है और दूसरी विचारधारा के अनुसार कुछ कर्तव्य तो अधिकार से सम्बन्धित होते हैं परन्तु कुछ किसी भी प्रकार के अधिकार से सम्बन्धित नहीं होते।

व्यक्ति का राज्य तथा समाज के प्रति कर्तव्य

(Duties of an individual towards the State and Society)

कर्तव्य पालन से अधिकारो का जन्म होता है और अपने विभिन्न अधिकारो के उचित उपयोग से व्यक्ति मे कर्त्तव्य भावना का विकास होता है। कर्त्तव्य समाज के विकास की रीढ की हड्डी है। मनुष्य को अपने उत्तरदायित्वो को पूर्ण करने का नाम ही कर्त्तव्य है। अधिकार और कर्तव्य मानव जीवन रूपी गाडी के दो पहिये हैं, जिनमें से एक के अभाव म गाडी नही चल सकती। यदि हम यह समझते हैं कि समाज और राज्य मे रह कर नागरिको के कुछ अधिकार होते हैं, तब नागरिकों को चाहिए कि राज्य और समाज मे रह कर उनके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। इन कर्त्तव्यो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, राज्य के प्रति कर्तव्य तथा समाज के प्रति कर्तव्य।

(1) राज्य के प्रति कर्तव्य—(i) राज्य भक्ति कोई भी व्यक्ति राज्य की भक्ति तभी कर सकता है, जबकि उसम राज्य भक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हो क्योंकि 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् जन्म भूमि की महत्ता व्यक्ति के लिए स्वर्ग स भी बढ कर होती है, इसलिए नागरिक को देशद्रोही कदापि नहीं होना चाहिये। राज्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य हो जाता है। नागरिक का कर्तव्य है कि वह शत्रुओ और खतरे के विरुद्ध राज्य की रक्षा करें और शांति व्यवस्था को बनाये रखने म सहायता करें।

(ii) राज्य नियम का पालन—राज्य की आज्ञाओ का पालन करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। राजाज्ञा की अवज्ञा और उपेक्षा प्रगति को रोकगी तथा राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति मे बाधक होगी। अत राज्य के नियमों की अवहेलना करना अराजकता को निमन्त्रित करना है अर्थात् राज्य नियमो का उल्लघन करके अधिकारो को चुनौती देना है।

(iii) राज्य कर्मचारियो के साथ सहयोग—नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे राज्य कर्मचारियो को उनके कार्यों म सहयोग दे न कि उनके विरुद्ध विद्रोह खडा करें।

(iv) राज्य के करो का भुगतान—प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय और स्थानीय करो का भुगतान करें। क्योंकि राज्य के सचालन के

लिए धन की आवश्यकता होती है। राज्य द्वारा लगाये गये करों का उचित रूप में भुगतान करना एक आदर्श नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

(v) सैनिक सेवा—नागरिकों का कर्त्तव्य है कि देश की सेना में भर्ती होकर कंधे से कंधा मिला कर लड़े और देश की सुरक्षा में आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की बाजी भी लगा दे। देश की स्वाधीनता के लिए नागरिकों को बड़े से बड़े त्याग और बलिदान के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि स्वाधीनता स्वर्ग का वरदान और दासता नरक का अभिशाप होता है। रूस के संविधान में सार्वभौम सैनिक सेवा का आदेश है और वह उस नागरिकों का सम्मानित कर्त्तव्य मानते हैं।

(2) समाज के प्रति कर्त्तव्य—(i) राजनीतिक अधिकारों का सदुपयोग करना—प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह राज्य के द्वारा दिये गये अधिकारों का दुरुपयोग न करे। मतदान के समय वर्ग, जाति, धर्म, मूलवंश आदि के आधार पर अयोग्य व्यक्तियों को अपना मत न देकर योग्य व्यक्तियों का ही निर्वाचन करे। अच्छी सरकार तब तक नहीं हो सकती, जब तक निर्वाचन कर्त्ता मतदान को एक पुनीत कर्त्तव्य नहीं मानेंगे। इस प्रकार, जो लोग चुने जाते हैं उन्हें सार्वजनिक पदों (Public Offices) को सेवा भाव के साथ ग्रहण करना चाहिये।

(ii) सामूहिक कल्याण—समाज प्रत्येक नागरिक से यह आशा करता है कि वह स्वहित सम्पादन के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचायेगा, और सार्वजनिक हित की रक्षा करेगा। प्रत्येक भाव का कर्त्तव्य है कि वह अपने पड़ोस घर आदि के स्वास्थ्य के विषय में सचेत एवं जागरूक रहे, निर्बल और निर्धनों की सहायता करें, विदेशी वस्तुओं का प्रयोग कम से कम तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग अधिकाधिक करे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को सामाजिक चेतना (Social Conscience और सार्वजनिक भावना (Public Spirit) का विकास करना चाहिये। व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामाजिक हितों को सदैव अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। वास्तव में किसी भी राज्य की वास्तविक पहचान उसके नागरिकों को दिये गये मूल या मौलिक अधिकारों में Fundamental Right। ही होती है। अरस्तू ने यह ठीक कहा था कि, 'श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण करते हैं।"

नागरिकों के मूल कर्त्तव्य (Fundamental duties of Citizens)

नागरिक कर्त्तव्यों की आवश्यकता—अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः कर्त्तव्यों के अभाव में नागरिक अधिकारों

की कल्पना मिथ्या है। भारतीय संविधान के निर्माता भी अधिकारों और कर्त्तव्यों की अन्योन्याश्रितता से परिचित थे। परन्तु उनकी मान्यता थी कि नागरिकों के मूल अधिकारों की व्यवस्था स्वाभाविक रूप से नागरिकों में कर्त्तव्यों की भावना उत्पन्न करेगी। जब हमारी शिक्षा प्रणाली सामाजिक परम्परायें तथा प्रजातान्त्रिक ढांचे की राजनीतिक संस्थायें कर्त्तव्यों की भावना उत्पन्न न कर सकी तो संविधान में उनकी व्यवस्था करना आवश्यक हो गया। अतः भारतीय नागरिकों के कर्त्तव्यों के चार्टर का उद्देश्य 'लोगों की मनोवृत्ति, आचार व्यवहार और विचारों को परिवर्तित कर क्रांति को शांतिपूर्ण ढंग से निष्पादित करना है।

भारतीय नागरिकों के कर्त्तव्यों के चार्टर में जिन दस मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है वे निम्न हैं —

1 संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों संस्थाओं, राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्र गान का आदर।

2 राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम को जिन ऊंचे आदर्शों से प्रेरणा मिली उन्हें हृदयगम करना तथा उनका अनुसरण करना।

3 भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता को परिपुष्ट करना और उसकी रक्षा करना।

4 देश की रक्षा करना और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करना।

5 भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की ऐसी भावना का निर्माण करना जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हों, ऐसी प्रथाओं का त्याग करना जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

6 हमारी मिश्रित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा के महत्व को समझना और उसका परिरक्षण करना।

7 वन, झील, नदी और वन्य जीवन सहित प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा एवं उन्नति करना तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखना।

8 वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद, अन्वेषण (ज्ञानार्जन) तथा सुधार की भावना का विकास करना।

9 सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा करना तथा हिंसा का त्याग करना।

10 व्यक्तिगत एवं सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करना, ताकि निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि नवीन ऊंचाइयों तक पहुंच सके।

समाज

8

(The Society)

"मानव समाज केवल राज्य द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों का बालू का ढेर नहीं है अपितु वह व्यक्तियों का उन्नतिशील देव-समूह है।"

—फिगिस

समाज वह है जिसमे लोग मिल कर रहते हैं। समाज ऐसे मनुष्यो का विकासशील समूह है जिसमे प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धो और सगठनो का समावेश होता है, जिसम व्यक्ति, समान उद्देश्य, कार्य और मनोकामनाओ की पूर्ति के लिए एकत्रित होते हैं और प्रयत्न करते रहते हैं। समाज मानव के साथ साथ रहने, सहयोगी जीवन व्यतीत करने तथा एक दूसरे की उन्नति मे योग देने की स्थिति की ओर सकेत करता है। जब मनुष्य सगठित रूप से व्यक्तियो के साथ रहता है, तो इस प्रकार के जीवन को सामाजिक जीवन कहा जाता है। अरस्तू के अनुसार "मनुष्य स्वभाव और आवश्यकता से ही एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला अपना जीवन व्यतीत नही कर सकता। मनुष्य भले ही कुछ समय तक समाज स अलग रहे उसके जीवन का विकास तो समाज मे रह कर आपसी सहयोग पर ही निर्भर करता है'। अरस्तू ने तो आगे यहां तक कह दिया कि समाज से पृथक् रहने वाला व्यक्ति या तो देव तुल्य है या पशु। इस प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए समाज मे रहना अनिवार्य सा है साथ ही समाज को भी व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। प्रकृति भी मनुष्य को सामाजिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है तथा विभिन्न आवश्यकताए उसे समाज मे सहयोग द्वारा वैसा जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करती हैं। सामाजिक जीवन के अभाव में मनुष्य पशु तुल्य जीवन व्यतीत करता है, तथा आज जो हम सभ्य सुसंस्कृत अवस्था देख रहे हैं वह सामाजिक जीवन के बिना असम्भव थी।

समाज का अर्थ—समाज का सम्बन्ध मनुष्य से होता है तथा मनुष्य के जीवन का पूर्ण विकास भी समाज पर निर्भर रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्य रूप स किसी न किसी समाज का सदस्य अवश्य ही होता है। समाज की सदस्यता

समाज का विकास (Development of the Society)—

(i) आखेट युग (Hunting stage)—इस युग में समाज असंगठित था तथा मनुष्य असभ्य, असंस्कृत और जंगली था, मनुष्य का रहन सहन, आचरण और व्यवहार सभी कुछ पशुओं जैसा ही था। उस युग में मनुष्य भी अन्य हिंसक जानवरों की भांति दूसरे पशुओं को मारकर अपना पेट भरता था। इस समय मनुष्य नुकीले पत्थरों की सहायता से पशुओं का शिकार किया करता था। वृक्षों की छाया में और कन्दराओं में उनका वास था। लोग छोटे छोटे झुंड बना कर रहने लगे। उस समय न कोई परिवार था और न राज्य। इसलिए वहां किसी भी प्रकार का कानून भी नहीं था। उस समय संचय करने की प्रवृत्ति नहीं थी। काफी समय के पश्चात् उनमें आपसी सहयोग की भावना का जन्म हुआ। दिन में लोग जितना शिकार करके लाते थे उसे शाम को सब मिलकर खाने लगे।

(ii) पशुपालन या चारागाह युग (Pastoral Stage)—आखेट युग में तो मनुष्य पशुओं को मारकर अपना पेट भरता था। शनैः शनैः पशुपक्षियों के महत्व और उनकी उपयोगिता के विषय में मानव ज्ञान में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप मनुष्य पशुओं को मारने के स्थान पर उनका पालन और रक्षण करना सीख गया। मनुष्य का जीवन स्थिर हुआ और उसके भोजन की समस्या आसान हो गई। समूहों का आकार बढ़ने लगा। अब पशुपालन अपने जीवन निर्वाह का साधन बन गया तथा पशुओं के रूप में सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ और साथ ही मनुष्य में संग्रह प्रवृत्ति का जन्म हुआ। मानव जीवन में स्थिरता आने से एवं पशुपालन द्वारा भोजन की सुविधा हो जाने से समूहों का आकार बढ़ने लगा। शनैः शनैः वैवाहिक सम्बन्ध स्थायी होने लगे और कुटुम्बों का भी जन्म हो गया। परिवार में स्त्री, पुरुष, बच्चे रहने लगे, परिवार के मुखिया को प्रधानता प्रदान की गई।

यद्यपि आखेट युग की अपेक्षा इस युग में शांत मय वातावरण था। इस समय पशुपालन के कारण पशुओं के चरने के लिए स्थान की तलाश होने लगी, जहां कहीं भी पशुओं के चरने के लिए अच्छी जगह मिल जाती वहीं पर रहने लगते। इस प्रकार उनका जीवन भ्रमणशील हो गया।

(iii) कृषि युग (Agricultural stage)—चारागाह युग के पश्चात् कृषि युग का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य ने एक स्थान पर खेती करना आरम्भ किया और सामाजिक विकास में क्रांतिकारी उन्नति हुई। कृषि द्वारा लोगों को कई प्रकार के खाद्य पदार्थ प्राप्त होने लगे। मनुष्य ने कपास की खेती करके वस्त्रों की समस्या

का भी समाधान कर लिया। अब भोजन निश्चित और पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होने लगा। अतः मनुष्य को शारीरिक और मानसिक विकास के लिए अवकाश मिलने लगा। भ्रमणशील जीवन से उकता कर अब स्थायी रूप से रहने लगा। उसने मिट्टी और लकड़ी के मकान बनाने शुरू किये साथ ही संगठन और सहयोग से रहना सीखा। धीरे धीरे कई कृषक परिवारों के साथ रहने के कारण गाँवों का जन्म हुआ। लोग आपस में मिल जुलकर काम करने लगे, इससे सामाजिक भावना का विकास हुआ। अदला बदली (Exchange System) पद्धति का जन्म हुआ और मनुष्य के जीवन में एक विशेष परिवर्तन आने लगा।

सामाजिक और आर्थिक उन्नति के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में भी वृद्धि होने लगी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नई नई चीजें बनने लगीं इससे अलग अलग परिवारों में पृथक पृथक कलाओं का विकास होने लगा। समस्त वस्तुएं हाथों द्वारा बनाई जाती थीं इस कारण इस युग को हस्तकला अथवा शिल्प कला का युग कहकर भी पुकारा जाता था।

कृषि की उन्नति से कुटीर उद्योग धंधों की उन्नति हुई और व्यापार प्रारम्भ होने लगा। मुद्रा के माध्यम से विनिमय (Exchange) की क्रिया की जाने लगी। नगरों का निर्माण होने लगा, और सामाजिक जीवन अधिक जटिल होता गया। समानता समाप्त होकर धनी, निर्धन, व्यापारिक पुरोहित आदि पृथक पृथक वर्ग बन गये। जीवन में क्लिष्टता आती गई और आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ।

(iv) औद्योगिक युग (Industrial Stage)—धीरे धीरे वैज्ञानिक उन्नति होने से पैदावार के साधनों ने आश्चर्यजनक उन्नति की। औद्योगिक क्रांति के कारण अन्य देशों में उद्योगों का विकास होने लगा। इस क्रांति के फलस्वरूप मनुष्य की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की वृद्धि होने लगी। यातायात के साधनों के कारण विश्व के विभिन्न भाग एक दूसरे के प्रति निकट होने लगे। अनेक कारखानों का निर्माण हुआ। जीवन में संघर्ष बढ़ने लगे और जीवन में जटिलता आने लगी। औद्योगिक विकास होने पर पूंजीपति और मजदूर वर्ग का प्राधान्य हुआ, तथा सामन्तशाही विचारधारा की अपेक्षा पूंजीवाद का अधिक जोर हुआ। इस प्रकार औद्योगिक दौड़ के कारण अनेक विकसित देशों ने पिछड़े हुए देशों का शोषण करना प्रारम्भ किया। विकसित देशों की इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विकास होने लगा।

इस प्रकार समाज पहले छोटा तथा सरल समूह था, जो प्राज इतना विशाल एव जटिल बन गया है। समाज के विकास के साथ साथ मनुष्यों ने आश्चयजनक प्रगति की है। समाज का विकास क्रमश सरलता के माध्यम से जटिलता की ओर गुजर रहा है। यह समाज के विकास का ही परिणाम है। अत कहा जा सकता है कि समाज की उत्पत्ति न होकर उसका क्रमिक विकास हुआ है। इस प्रकार मनुष्य की विकसित बुद्धि और अनुभव ने प्राज उसे इतना शक्तिशाली और महान् बना दिया है।

सामाजिक सगठन (Social Organization)—

समाज एक सामुहिक व्यक्तियो की विशाल व्यवस्था है। इसे सगठित तभी माना जा सकता है जब कि उसके भिन्न भिन्न अ ग भली भाति उसी प्रकार अपना काय करते रह, जिस प्रकार एक मशीन के पुर्जे एक दूसर से सम्बन्ध रखते हुए बराबर काय करत रहते हैं। इसी प्रकार सगठित समाज मे विभिन्न इकाईया सुसगठित रूप स काय करती है। सामाजिक सगठन अस्त व्यस्त हो जाने से यह सब कुछ बिखर जाता है। सामाजिक सगठन म व्यक्ति और समूहो के साथ साथ समितियां और सस्थाए भी होती है। इस प्रकार सामाजिक सगठन जटिल (Complex) होते हैं। सामाजिक सगठन ही वह व्यवस्था है जो समाज की व्यवस्था पर नियन्त्रण एव सम वय रख कर काय को सुचारू रूप से बनाये रखती है। लम्ले क अनुसार—"सामाजिक सगठन सहयोग करने वाले विशेषीकृत भागो से बना हुआ भाग है"।[1]

अर्नेस्ट जोन्स के शब्दो में—'सामाजिक सगठन वह व्यवस्था है जिससे कि समाज के विभि न अ ग एक दूसरे से तथा पूरे समाज के साथ सार्थक ढ ग से सम्बन्धित रहत है"।[2]

"सामाजिक सगठन वह व्यवस्था है, जिसमे कि समाज क विभि न अ ग एक दूसरे से तथा पूर समाज के साथ सार्थक ढग से सम्बन्धित रहते हैं"।

—इलियट और मेरिल

---

1 Social organization is a whole composed of co-operative specializing parts'

—Lumley

2 Social organization is the system by which the parts of society are related to each other and to the whole society in a meaningful way —E Jones

रूटर और हार्ट ने सामाजिक सगठन के लिए व्यक्ति और समूहों के साथ साथ समितिया और सस्थाओ को भी सम्मिलित करते हुए इस प्रकार सामाजिक सगठन की परिभाषा भी दी है—"सामाजिक सगठन से अभिप्राय सास्कृतिक समितियो की पूर्णता और समूह की विशेषता असगठित क्रियाओ के समूह सहित उनके परस्पर सम्बन्धो से है" ।[1]

इस प्रकार समाज को सगठित करने के लिए उसके अग प्रत्यग एक दूसरे से पूर्ण रूप से सम्बन्ध रखते हुए काय करते हैं जिससे उनमें एकता की भावना रहती है। इसी प्रकार मानवीय शरीर भी एक उत्तम सगठन का उदाहरण कहा जा सकता है। शरीर के विभिन्न अ ग अपने निश्चित एव योजनाबद्ध काय करते हैं, जब तक उनमें सतुलन बना रहता है, तब तक शारीरिक सगठन सुचारू रूप से काय करता रहता है, जब तक स्वस्थ्य रहना है। वह शारीरिक सगठन की ही देन है। यदि शहर का जीवन पूर्ण रूप से सगठित होता है, जब समाज की सस्थाए अपने अपने नियमित कार्यों और उद्देश्यो की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग रखती हुई क्रियाशील रहती है तब ऐसे समाज को सगठित समाज की श्रेणी म रखा जा सकता है। जब समाज के अ ग अपने कार्यों मे असफल हो जाते हैं उनमे परस्पर सम्ब ध वि छेद होने लगते है, उनके आपसी सहयोग समाप्त हो जाते हैं, जिससे समाज का सतुलन बिगड जाता है, तब सामाजिक जीवन म उल्लास की अपेक्षा निराशा छा जाती है, सामाजिक जीवन विशृ खलित होने लगता है, जिसके कारण सामाजिक बीमारिया (उपद्रव, दगे) आदि विकासत होने लगते हैं। ऐसी स्थिति को नियत्रित रखने के लिए उनके म पसी सम्ब धो को मजबूत करना नितान्त आवश्यक होता है।

समाज म एकीकरण (Integration) और विभेदीकरण (Differentiation) की प्रक्रिया यें बराबर होती रहती है। जिनके फलस्वरूप बडे बडे समूह छोटे समूहो म विभाजित होते रहते हैं और छोटे समूह बडे समूहो म सगठित होते रहते हैं। ये सब सामाजिक सगठन की ही प्रक्रियायें (Processes of social organization) हैं। सामाजिक सगठन सामाजिक समूह मे इन दोनो प्रक्रियाओ से होन वाली अन्त क्रियाओ का शुद्ध परिणाम होना है। वास्तव मे सामाजिक सगठन

---

1 By social organization is meant the totally of cultureal institutions and their inter relationship together with the body of the unorganized activities

—Reuter & Hart

के प्रभाव में किसी व्यक्ति का जीवन सभव प्रतीत नही होता । प्रत साधारण बोल चाल की भाषा में समाज को व्यक्तियो का समूह कहा जाता है । मैकाइवर ने तो 'समाज को सामाजिक सम्बन्धो का जाल' कहकर सम्बोधित किया है । समाज उस जन समूह को कहा जा सकता है, जिसके उद्देश्यो मे एकता हो तथा भक्ति, सहयोग और कत्तव्य भावना के अ तगत वे पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धो के कारण ब धे हुए हो । ग्रीन न समाज की व्याख्या करते हुए लिखा है—'एक सम ज किसी भी व्यक्ति के रहने का दीघतम समूह होता है' । मैकेन्जी ने समाज की परिभाषा इस प्रकार से की है—"समाज व्यक्तियो की एकता की सामान्य विधि है" मैकाइवर और पेज ने समाज की व्याख्या करते हुए लिखा है—"समाज व्यवहारो एव प्रति क्रियाओ की, अधिकारो एव पारस्परिक सहयोग की, अनेक समुहो और भागो की मानव व्यवहारो नियन्त्रणो एव स्वाधीनताओ की व्याख्या है । इस हमेशा परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को समाज को सज्ञा दी जाती है ।" जेम्सवर्ग ने समाज की परिभाषा इस प्रकार से व्यक्त की है—'समाज का अथ केवल राजनैतिक सबधों से नही होता है, बल्कि मानवीय सम्ब धो और सामूहिक सम्ब धो एव उनके कार्यों से होता है" । व्यूवर के अनुसार—'एक समाज की परिभाषा लम्बे समय स एक साथ निवास करने वाले व्यक्तियों क समूह जो कि सगठित होने के लिए उनको एक इकाई के रूप मे मानकर ही की जा सकती है" ।

गिडिग्स के अनुसार—'समाज स्वय एक सघ है, एक सगठन है, औपचारिक सम्ब धों का योग है, जिसमे सहयोगी व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित रहते है" । सबसे सुन्दर एव अथ पूण ढग से समाज की व्याख्या टेल कोट पारसन ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—'समाज शब्द का प्रयोग एक अत्यन्त साम य अथ म होता है । मनुष्य के जो विभिन्न प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं वे सब इसके अन्तगत आ जाते हैं । समाज उन सम्पूण मानव सम्बन्धों का नाम है जो मनुष्य क उन कार्यों से उत्पन्न होते हैं, जि हे वह कुछ उद्देश्यो की पूर्ति के लिए करता है । वे उद्देश्य तथा उनकी प्राप्ति के साधन चाहे वास्तविक हो अथवा साकतिक ।' इस प्रकार मानव जाति के जीवन तथा विस्तार के लिए समाज का होना अनिवाय सा है । यदि मनुष्य एक दूसरे के साथ समाज म नही रह सकते तो उनका अस्तित्व शीघ्र ही मिट सकता है । अत समाज ही व्यक्ति को जीवन के सर्वा गीण विकास का अवसर देता है । मनुष्य का जीवन उसकी समृद्धि और उसकी उन्नति समाज म और समाज द्वारा ही सम्भव होती है । मनुष्य और समाज का सम्ब ध ज म स प्रारम्भ होता है, और उसके जीवन काल क अ त तक चलता रहता है । व्यक्ति क

सहयोग के बिना समाज का पूर्ण विकास नहीं हो सकता, और समाज के अभाव में भी व्यक्ति स्वयं का पूर्ण विकास नहीं कर पाता। वास्तव में व्यक्ति और समाज उसी प्रकार अन्योन्याश्रित है जिस प्रकार कि शरीर के अंग होते हैं। समाज व्यक्ति के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि प्राणी के लिए वायु और भोजन। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति सामाजिक सहयोग पर ही निर्भर है। समाज संस्कृति का रक्षक है, राजनैतिक व्यवस्था का सार है, और व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को सहायता प्रदान कर रहा है।

समाज की उत्पत्ति (Origin of the Society)—समाज की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? यह विवादग्रस्त प्रश्न है। विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने तर्क के अनुसार—भिन्न भिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। कुछ लेखकों का मत है कि समाज की उत्पत्ति दैवी सिद्धांत के आधार पर हुई जिसका तात्पर्य होता है कि समाज ईश्वर द्वारा बनाया गया है। दूसरी विचार धारा में समाज की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर हुई मानते हैं। हॉब्स, लाक, रूसो ने इस सिद्धांत के विषय में अपने विभिन्न दृष्टिकोण से मत प्रस्तुत किये हैं। इसके अतिरिक्त मातृक और पितृक सिद्धांत तथा विकासवादी सिद्धांत भी समाज की उत्पत्ति में अपना विशेष महत्व रखते हैं।

(1) दैविक सिद्धांत (Divine Theory)—समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन दैविक सिद्धांत माना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार समाज की उत्पत्ति एवं रचना ईश्वर के द्वारा हुई अर्थात् ईश्वर ने ही मनुष्य का निर्माण किया और मनुष्य की सुख सुविधा के लिए उसने सामाजिक संस्थाओं का निर्माण किया। इस सिद्धांत के अनुसार—समाज के निर्माण एवं विकास आदि में मनुष्य का कुछ भी हाथ नहीं है। ईश्वरीय शक्ति सम्पूर्ण समाज पर नियंत्रण रखती है। चूंकि इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की उत्पत्ति दैविक शक्ति द्वारा हुई इस कारण ऐसे सिद्धांतों को 'दैविक सिद्धांत' कहा जाता जाता है। इसके अनुसार सम्पूर्ण समाज का संगठन और समाज की विभिन्न समस्याएं जैसे—आर्थिक धार्मिक राजनैतिक सांस्कृतिक आदि सब ईश्वर द्वारा हुई है। अतः ऐसी सामाजिक संस्थाओं पर मनुष्य का किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं है। अतः व्यक्ति (मनुष्य) ईश्वर के हाथ का खिलौना मात्र है। समाज एक ईश्वरीय वस्तु है, और संगठन तथा संस्थाओं में परिवर्तन आदि का अधिकार भी ईश्वर एवं उसके प्रतिनिधियों को ही प्राप्त है। दैविक सिद्धांत के आलोचकों के अनुसार-यह सिद्धांत पूर्णतः गलत और अवैज्ञानिक है कि समाज की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई। वास्तव में

यह मानवीय सस्था है और इसका विकास भी मनुष्यो द्वारा हुआ है। इस सिद्धात से समाज की उत्पत्ति मे बाधा पहुँचती है। यह सिद्धात मनुष्य को निष्क्रिय और शक्ति हीन बना देता है और उसकी मौलिकता को नष्ट करके उसकी उन्नति एव समृद्धि म बाधा डालता है और मनुष्यों को उनमे किसी भी प्रकार का परिवतन करन के लिय अधिकार नही देता। इस प्रकार यह सिद्धात रूढिवादियो के कवच के समान है। वास्तव मे विवेकशील मनुष्य इस सिद्धात को कदापि स्वीकार नही कर सकता और यह मत अब मृत सा हो चुका है।

(2) सामाजिक समझौते का सिद्धात (Social Contract Theory)—सम ज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौत का सिद्धात अत्य त महत्वपूण है इस सिद्धात के अनुसार समाज की उत्पत्ति लोगा के आपसी समझौते के आधार पर हुई है। सभी व्यक्तियो ने अपनी आवश्यकताओं को ध्यान म रखत हुए आपस म समझौता करके अपने उद्देश्यो एव लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक सामाजिक सगठन का निर्माण किया। इस सिद्धात के प्रमुख विचारको म हाब्स, लाक, रूसो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये विचारक एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जो राज्य क पहले था, और जिसे वे प्राकृतिक अवस्था के नाम से सम्बोधित किया करते थे। इस अवस्था की कल्पना तीनो विचारको ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है—

हॉब्स के अनुसार—समाज और राज्य के पूव की अवस्था अराजक अवस्था थी। मनुष्य का जीवन क्षणिक, बबर और निलज्ज था। 'जिसको मार सको मारो, जो करना चाहो करो' वाली कहावत प्रचलित था। निरतर कलह, युद्ध अशाति, असुरक्षा और बबर जीवन से दु खी होकर मनुष्यो ने समझौता किया और अपने प्राकृतिक अधिकार तथा शक्ति एक व्यक्ति को सौप दिये।

लॉक के अनुसार—प्राकृतिक अवस्था असुविधाजनक थी। मानव जीवन अनिश्चय और असुरक्षा के तीव्र वातावरण द्वारा पूण रूप से ग्रस्त था। उस समय किसी भी प्रकार का कानून नही था। ऐसी दशा मे सुखी जीवन व्यतीत करना असभव था। इन असुविधाओ को दूर करने के लिए मनुष्यो ने नागरिक समाज की स्थापना करने का निणय किया। लॉक ने दो प्रकार से समझौते किये—सामाजिक और राजनैतिक। प्रथम समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अ त करके एक सत्ता पूण समाज की स्थापना की। द्वितीय समझौत द्वारा सरकार की स्थापना की गई, जिसम शासक के साथ समझौता हुआ।

रूसो के अनुसार—समाज और राज्य क पुव की अवस्था इस पृथ्वी स्वग के समान थी। समस्त आदमी समान थे। उस समय न कोई

और न किसी का शासन। स्वतन्त्र समान और आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिये तथा जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिए समझौते द्वारा समाज और राज्य की स्थापना हुई।

इस सिद्धान्त की आलोचना यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से या कानूनी दृष्टिकोण से की जाय तो यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं माना जा सकता। क्योंकि समाज आदिमकाल से आज तक धारावाहिक रूप से विकसित होता चला आ रहा है। यह सिद्धान्त बतलाता है कि समाज का प्रारम्भ संविदा से होता है। इसके लिए हेनरीमेन ने यह सिद्ध किया कि संविदा (Contract) से समाज का प्रारम्भ नहीं अन्त होता है। आदिमकाल में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं थे, वे समाज के नियमों से जुड़े हुए थे। समाज का विकास स्थिति से संविदा की ओर हुआ, संविदा से स्थिति की ओर नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में अचानक मनुष्यों ने आपस में समझौता किया इससे समाज की उत्पत्ति हुई। प्रारम्भिक काल में मनुष्य जंगली अवस्था में था, अचानक इतना परिवर्तन सम्भव नहीं था कि जंगली मनुष्य समझौते जैसी महान् बात के बारे में सोचने लगे। कहावत है कि 'चीता एक रात में अपना रंग नहीं बदल सकता'। इस कारण यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध नहीं होता है।

(3) विकासवादी और ऐतिहासिक सिद्धान्त (Evolutionary or Historical Theory)—समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्तमान युग में विकासवादी सिद्धान्त सबसे उचित माना जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसका प्रारम्भ से ही समाज से अटूट सम्बन्ध रहा है। समाज की उत्पत्ति किसी निश्चित समय की कृति नहीं है और न ही प्रारम्भिक समझौते के फलस्वरूप उसकी उत्पत्ति हुई है। समाज की उत्पत्ति मानव प्रवृत्तियों एवं मानव की शारीरिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं का ही परिणाम है। रक्त, धर्म, सुव्यवस्था तथा नियमों की आवश्यकता, आर्थिक परिस्थितियां एवं सामाजिक स्वभाव इन बातों से समाज के विकास में योग मिला है। पहले मनुष्य का जीवन आज के समान जटिल नहीं था, परन्तु जीवन की उलझनों के कारण यह धीरे धीरे जटिल होता गया। भिन्न भिन्न देशों में इस विकास का क्रम भिन्न भिन्न रहा है। परिस्थितियों के अनुसार इस विकास की गति तीव्र एवं धीमी रही है। अतः समाज की उत्पत्ति और विकास के बारे में आज जिस सर्वाधिक सन्तोषजनक, मान्य एवं उचित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है वह विकासवादी सिद्धान्त ही है।

को ही समूहों के अन्तसम्बन्धों (Intergroup relationships) का प्रतिमान (Pattern) कहा जा सकता है। किसी समाज मे विभिन्न समूहो के परस्पर सम्बन्ध कैसा होते हैं ? यह उसके सामाजिक सगठन पर ही पूर्ण रूप से निर्भर करता है। इस प्रकार सामाजिक सगठन और सामाजिक समूहो म घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

सामाजिक सगठन के लक्षण (Features of the Social organization)—किसी समूह या समाज मे सगठन का ज्ञान कैसे होता है ? इसे समझने के लिए उसके आवश्यक तत्वो (Essential elements) या उनके लक्षणो (Features) पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। सामाजिक सगठन के निम्नलिखित लक्षण बतलाये जा सकते हैं—

(1) समाज के सदस्यो मे एकमत का होना—समाज के सदस्यों मे एकमत का होना सामाजिक सगठन का मूल लक्ष्य होता है। इसके न होने पर उनमे आपस मे विरोध तनाव और सघर्ष आदि होने लगते है और सामाजिक विघटन (Social disorganization) का श्री गणेश होने लगता है। जिस प्रकार प्राचीन भारत म जाति व्यवस्था मे बडा अतर था, उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो की स्थिति मे शुद्रो की स्थिति से बडा अन्तर था। इन सबके काम भी अलग-अलग थे। जब तक वर्ण व्यवस्था का सभी जातियों ने स्वागत किया, तब तक हिन्दू सामाजिक सगठन सुदृढ रहा। जब से ब्राह्मणो ने अपनी स्थिति का दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया, तब से हिन्दू समाज मे अव्यवस्था फैलने लग गई और समाज छिन्न भिन्न और असगठित होने लगा। आज भी देश मे जाति व्यवस्था की व्यापकता के कारण समाज सगठित नहीं हो सका है। लोगो की भावना म अभी तक एक मत की कमी नजर आ रही है।

(2) स्थिति और कार्यों को स्वीकार करने की तत्परता—समाज के सदस्यो मे एकमत तभी रह सकता है जबकि लोगों म सामाजिक सगठन म अपनी अपनी स्थिति (Status) और कार्यों (Roles) को स्वीकार करने की तत्परता हो। यद्यपि समाज की स्थिति एक समान नहीं हो सकती और न हो सभी के कार्य सम न हो सकते हैं। जिस प्रकार एक मशीन म प्रत्येक पुर्जे की अलग अलग स्थिति और कार्य होते हैं। उसी प्रकार समाज मे भी सभी सदस्यो के काम बटे रहते है शरीर की भी यही स्थिति है, जब तक शरीर म विभिन्न अग अपना अपना कार्य काम करते रहते हैं, तब तक शरीर स्वस्थ और सगठित रूप म रहता है।

प्रकार समाज में भी लिंग, आयु, विवाह, शारीरिक क्षमता, और कुशलता के आधार पर सामाजिक स्थिति में अन्तर पाया जाता है। इसी स्थिति के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के कार्य निर्धारित होते हैं। समाज के सदस्यों में अपनी-अपनी स्थिति और कार्य को स्वीकार करने की तत्परता ही सामाजिक संगठन का लक्षण माना जाता है।

(3) **समाज का नियन्त्रण**—समाज का नियंत्रण आदतों, जनरीतियों, प्रथाओं रूढ़ियों विधियों तथा संस्थाओं के द्वारा होता है। नियन्त्रण से ही समाज में एकरूपता कायम हो सकती है। समाज के सदस्यों पर समाज का अंकुश या नियन्त्रण हटते ही सामाजिक विघटन प्रारम्भ होने लगता है। सामाजिक संगठन में सामाजिक स्थिति का बड़ा महत्व रहता है।

मैकाइवर और पेज ने सामाजिक स्थिति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'स्थिति वह सामाजिक पद है जो कि अपने रखने वाले के लिए उसके व्यक्तिगत गुणों अथवा सामाजिक सेवा के अतिरिक्त आदर प्रतिष्ठा तथा प्रभाव की कुछ मात्रा निश्चित करती है।" इस प्रकार स्थिति का सामाजिक सम्बन्धों में वह विशिष्ठ स्थान है जिसके कारण व्यक्ति को आदर और प्रतिष्ठा मिलती है तथा उसका प्रभाव होता है। सामाजिक स्थिति से व्यक्ति के कार्य भी बदलते रहते हैं। कहीं कहीं सामाजिक स्थिति से व्यक्ति कानून के सामने भी विशेषाधिकार रखते हैं। जिस प्रकार इंग्लैंड में राजपरिवार पर किसी प्रकार का मुकदमा नहीं चलाया जा सकता और राजपरिवार का व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से सदैव ऊपर रहता है। प्राचीन भारत में भी ब्राह्मण तथा शूद्रों को उनकी स्थिति के अनुसार समान अपराध के लिए दण्ड देने की व्यवस्था भी भिन्न भिन्न थी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द, महात्मा गांधी आदि का सम्मान भी उनकी सामाजिक स्थिति के कारण था। ऐसे लोगों के प्रभाव के कारण ही वे समाज को संगठित करने में सफल हुए।

समाज का वर्गीकरण (Classification of Society)—

वैसे 'समाज' एक ऐसा विस्तृत अर्थ वाला शब्द है जिसमें मनुष्य के उन सारे सम्बन्धों के अर्थ में शक्ति अन्तर्निहित करता है जो मनुष्य के किसी संघ में होते हैं। अपने संकीर्ण अर्थ में समाज का अस्तित्व तब माना जाता है जब समाज में रहने वाले अपने परस्पर संबंधों की चेतना रखते हैं? समाज अपने विस्तृत अर्थ में सारे सामाजिक संबंधों का रचनात्मक है। यह है समाज का समग्ररूप। पर जब हम समाज के किसी भाग को भी समाज कहते हैं, ऐसी अवस्था में कोई भी

सघ, समूह, समिति, सगठन, सम्मेलन, सभा जो समाज मे पाई जाती है उसे समाज कहा जा सकता है। इस तरह समाज मे अनेक समाज हो सकते है। इस प्रय म हम समाज क कई रुप देखने को मिलते हैं जिसे हम समाज कह सकते है। या हम कह सकते है कि समाज सामाजिक व्यवहार की सम्पूर्ण जटिल व्यवस्था और सामाजिक सबधो का जाल है। अत इसके वर्गीकरण से वो सब तत्व सम्बन्धित है जिनसे मिल कर समाज रुपी जाल बना है वो तत्व व्यक्ति, समूह, समिति सगठन, सस्थायें आदि कई है तथा ये सब समाज के ही रूप है अत समाज का वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया जा सकता है। समाज शास्त्रीयों ने समाज का वर्गीकरण मुख्य दो आधारो पर किया हैं—समूह व सस्थायें या सघ।

समाज का वर्गीकरण निम्न तरह से किया जा सकता है—

(1) जाति के अनुसार सारी मानव जाति मानव समाज है,

(2) समान सस्कृति, परम्परा साहित्य आदि के अनुसार जहा हम व्यक्तिगत भेद की ओर ध्यान नही देते तो उसे हम राष्ट कहते हैं

(3) उद्देश्य और क्रिया के अनुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता है जसे—धर्म समाज राजनतिक समाज, आर्थिक समाज, सास्कृतिक समाज आदि इनको सामान्यतया जब उद्देश्य पर बल दिया जाता है तो सघ कहते हैं। मनोरजन के उद्देश्य से सुधार के उद्देश्य से सघ बनाये जा सकते हैं।

समाज के अनिवार्य सघ हैं—(1) कुटुम्ब (2) राज्य

वकल्पिक सघ हैं—

1 धार्मिक सघ
2 श्रमिक सघ
3 सास्कृतिक सघ
4 व्यवसायिक सघ
5 परमार्थ सघ
6 राजनैतिक सस्थायें
7 समाज कल्याण—सघ
8 मनोरजन की सस्था—जसे-क्लब आदि।

गिलिन और गिलिन ने समूहो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

1 नातेदारी या रुधिर सम्बधी समूह इनमे समाज।
2 जनसख्या की शारीरिक बनावट और विशेषताओं पर आधारित समूह।
3 स्थान या भूमिखण्ड पर आधारित समूह।
4 अस्थिर समूह।
5 स्थायी समूह।
6 सांस्कृतिक समूह।

उपरोक्त सब समूह के आधार पर समाज का वर्गीकरण भी दिया जाता है नातदारी या रुधिर सम्बन्धी समूह से समस्त मानव समाज, जनसख्या की शारीरिक बनावट से समस्त स्त्री समाज, हिन्दु समाज, स्थान या भूमिखण्ड के आधार पर राज्य, राष्ट्र आदि अस्थिर समूह से भीड, श्रोता, स्थायी समूह स विशाल नगर, शहर, कस्बो आदि का वर्गीकरण होता है। सामूहिक, जीवन मे आधार भूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सगठित और स्थापित तरीकों को सस्थायें या सघ कहते है इनके आधार पर समाज का वर्गीकरण पारिवारिक, आर्थिक राजनतिक, धार्मिक, सास्कृतिक समाज आदि से किया जाता है। अत यह सब समाज के ही भिन्न भिन्न रूप है।

धाराम्रो की रचना में परिवर्तन से हुए हो या समूह के अन्दर ही प्रसार अथवा आविष्कार से लाये गये हो" ।[1]

सामाजिक परिवतन के सिद्धात (Theories of Social Change)

सामाजिक परिवतन किस प्रकार चलता है? उसमे पुनरावर्ति होती है अथवा नही? इन प्रश्नो को लेकर विचारको ने सामाजिक परिवतन के भिन्न-भिन्न सिद्धात उपस्थित किये हैं। सामाजिक परिवतन की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों म विशेष तीन सिद्धात प्रचलित हैं।

(1) सामाजिक परिवतन का समरखिक (Unilinear) सिद्धान्त।
(2) सामाजिक परिवतन का चक्रिक (Cyclic) सिद्धान्त।
(3) सामाजिक परिवतन का विकासवादी (Evolutionary) सिद्धात।

(1) **समरखिक सिद्धान्त**—सामाजिक परिवतन के समरेखिक सिद्धात के अनुसार परिवतन एक सीधा रेखा म होता है। सामाजिक परिवतन के द्वारा समाज कुछ निश्चित लक्ष्यो की ओर निरन्तर आगे बढता है। सामाजिक परिवतन के ये लक्ष्य पूव निर्धारित होते हैं उनको प्रकृति द्वारा पहले स ही निश्चित कर दिया गया है। भूमण्डल म परिवतन होने स ही यहा जीव का होना और रहना सम्भव हुआ है। वास्तव म यह सिद्धात विश्व के स्तर पर परिवतन की व्याख्या अवश्य ही कर सकता हैं, परन्तु मानव समाज म परिवतन की व्याख्या नही कर सकता। इस सिद्धात का मुख्य दोष यह है कि लक्ष्यो को पूव निश्चित मान लेता है यदि समाज कुछ निश्चित लक्ष्यो की ओर बढ भी रहा हो तो भी उन लक्ष्यो का निश्चित करना असम्भव होगा, जब तक कि समाज के भावी विकास की रूपरेखा ज्ञात न हो। अत यह सिद्धात वैज्ञानिक नहीं है।

(2) **चक्रिक सिद्धात**—इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक परिवतन म पुनरावृत्ति होती रहती है। दार्शनिक और विचारक मानते है कि भवचक्र म सृष्टि और प्रलय एक के बाद एक आते रहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक परिवतन मे घडी के पण्डुलम के समान गति होती है और भिन्न भिन्न अवस्थाए

---

1 *Social changes are variations from the accepted modes of life, whether due to alteration in geographic conditions in cultural equipment, composition of the population or ideologies or whether brought by diffusion or invention with in the group (Cultural Sociology, P P 561-62) —Gillin & Gillin*

बार बार लौटकर आती हैं। इस मत को अनेक प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने माना है। आधुनिक काल के प्रसिद्ध ऐतिहासिक दार्शनिक ओसवाल्ड स्पेंगलर ने इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। स्पेंगलर के अनुसार—"जिस तरह भौतिक जगत में एक के बाद एक ऋतु आती रहती है उसी तरह संसार की सभी बड़ी बड़ी संस्कृतियाँ अपने विकास में बसन्त, ग्रीष्म, शरद और शीत ऋतुओं से क्रमशः गुजरी हैं"।

सामाजिक परिवर्तन का चक्रिक सिद्धांत प्रकृति और मानव समाज के परिवर्तनों में एक क्रम मानता है। जिस प्रकार दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आते हैं, गर्मी के बाद बरसात और बरसात के बाद जाड़े की ऋतु आती है जिस तरह फूल उगता है, खिलता है, और मुरझा जाता है, तथा जिस तरह मनुष्य बचपन किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था की अवस्थाओं से गुजरता है, उसी तरह भिन्न भिन्न मानव समाज और संस्कृतियाँ कुछ निश्चित दशाओं से गुजरती हैं। केवल समाज और संस्कृति के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि परिवर्तन के चक्रिक सिद्धांत को राजनीति, कला तथा अन्य क्षेत्रों में भी लागू किया गया है। दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल (Hegel) ने मानव इतिहास में कुछ निश्चित अवस्थायें मानी हैं। हीगल के अनुसार—"मानव इतिहास के हर क्षेत्र में प्रत्येक वाद का प्रतिवाद होता है और प्रतिवाद के बाद संवाद होता है। यह संवाद पुनः एक वाद के रूप में प्रतिवाद को जन्म देता है"। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद की अवस्थायें मानव इतिहास के सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती हैं। इसी तरह कला के क्षेत्र में प्रायः परम्परावाद से रोमांचवाद की ओर तथा रोमांचवाद से फिर परम्परावाद की ओर परिवर्तन होता देखा जा सकता है। इसी तरह सांस्कृतिक परिवर्तन किसी चुनौती के उत्तर में उदय होता है। बढ़ते बढ़ते वह संकट अवस्था में आता है, जिसके बाद से उसका पतन शुरू हो जाता है। संस्कृतियों के उत्थान और पतन के इस चक्र में एक पूर्व निश्चित संगति है। प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी के अनुसार— विश्व की महान-सभ्यताओं के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि सभी सभ्यतायें उत्थान और पतन में कुछ निश्चित अवस्थाओं में से गुजरी हुई हैं।

(3) **विकासवादी सिद्धांत**—विकासवाद के अनुसार परिवर्तन सीधी रेखा में न हो कर एक पौधे की वृद्धि की तरह से होता है। जीवन शास्त्र के क्षेत्र में डार्विन की विकासवादी व्याख्या के मान्य होने से ज्ञान विज्ञान के सभी क्षेत्रों में एक क्रांति सी मच गई है। विकास वाद के सिद्धांत की हर्बर्ट स्पेंसर तथा हाब हाउस ने बड़ी विस्तृतता से इस सिद्धांत की पुष्टि की है। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'समाज-

शास्त्र के सिद्धांत' के खण्ड 5 में लिखा है कि "उद्‌विकास पदार्थ तथा सहकारी गति के निष्प्रवन (Dissipation) का संकलन है, जिसमें पदार्थ एक सापेक्षिक, अनिश्चित और बेमेल सजातीयता से एक सापेक्षिक रूप से निश्चित तथा समन्वित विजातीयता में बदल जाता है, जिसमें कि स्थापित गति में भी समानान्तर रूपान्तरण हो जाता है।"[1]

मॉर्गन, हैडन और इंगेल्स के अनुसार—समाज का विकास तीन अवस्थाओं से होकर होता है (1) वन्यावस्था (Savagery) (2) बर्बरता (Barbarism) और (3) सभ्यता (Civilization) इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने प्रत्येक समाज के आर्थिक विकास की चार अवस्थायें मानी हैं—(1) आखेट (Hunting) (2) पशुपालन (Pastrol) (3) कृषि (Agricultural) तथा (4) औद्योगिक (Industrial) अवस्था। विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार प्रौद्योगिकी (Technology) के विकास में तीन स्तर माने गये हैं (1) प्रस्तर युग (Stone Age), कांसा युग (Bronze Age) तथा लौह युग (Iron Age)

सामाजिक विकास की अवस्थायें (Stages of Social Evolution)—मकाइवर ने अपनी पुस्तक 'Society' में सामाजिक विकास के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने विकास की निम्न अवस्थाओं का वर्णन किया है—(1) सामुदायिक प्रथाएं (Communal Customs) (2) विभेदीकृत सामूहिक संस्थाएं (Differenated Communal Institutions) तथा (3) विभेदीकृत समितियां (Differenated Associations)

आदिम समाजों में बहुत सी सामूहिक प्रथायें होती थीं जिनको समाज के सभी व्यक्ति मानते थे। ये सामूहिक प्रथाएं ही आदि समाजों पर शासन करती थीं। इस प्रकार आर्थिक, धार्मिक, राजनतिक सभी कार्य सामूहिक रीति-रिवाजों से ही किये जाते थे। कालान्तर में धीरे धीरे समाज का विकास हुआ, जनसंख्या बढ़ने लगी, नई नई समस्यायें उत्पन्न होने लगी, अतः भिन्न भिन्न कार्य अलग अलग समितियों को सौंप दिये जाने लगे। समाज सम्बन्धी उपरोक्त सामाजिक

1 Evolution is an intergration of matter and concomitant dissipation of motion, during which the matter passes from a relatively indefinite, incoherent homogeneity to a relatively definite coherent heterogeneity and during which the retained motion undergoes a parallel transformation (Principles of Sociology, vol V) —Herbert Spencer

विकास की अवस्थाओं को नहीं मानते है। कुछ समाज शास्त्रियों ने सामाजिक विकास को जवकीय विकास (Biological Evolution) के आधार पर व्याख्या की है। आगबर्न (ogburn) ने सामाजिक विकास के चार कारक बताये है—आविष्कार (Invention), संचय (Accumulation), प्रसार (Diffusion) तथा सामजस्य (Adjustment)—

सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change)—मक्सवेबर (Maxweber) ने सांस्कृतिक कारक को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य कारक बताया है। उनके अनुसार सामाजिक परिवर्तन संस्कृति मे परिवर्तन होने के साथ होते हैं। मैक्सवेबर ने अपने इस मत को धर्मों और आर्थिक व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध किया। डॉसन और गेम्सि के अनुसार "संस्कृति सामाजिक परिवर्तन की गति और निर्देश देती है और वे सीमायें निश्चित करती है जिनसे परे सामाजिक परिवर्तन नही हो सकते"।

सामाजिक परिवर्तन में **प्रौद्योगिक कारक (Technological Factors)** का बडा प्रभाव पडा है। विज्ञान के नित नये आविष्कारो से, नये नये यन्त्रो तथा प्रणालियो के निरन्तर बढते जाने से सामाजिक सम्बन्धो पर भारी प्रभाव पडा है। बिजली भाप तथा पेट्रोल से चलने वाले उत्पादन के यन्त्रो, यातायात, परिवहन और सन्देशवाहन के साधनो तथा दैनिक जीवन के सकडो कार्यों के लिए नई नई मशीनो के आविष्कार से समाज का रूप बदलता जा रहा है। अत आधुनिक युग मे प्रौद्योगिक कारक सामाजिक परिवर्तन के सबसे मुख्य कारको मे से एक है।

जवकीय कारको (Biological Factors) का भी सामाजिक परिवर्तन पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडता है। जैवकीय कारको मे वंशानुसक्रमण से सम्बन्धित जनसंख्या का गुणात्मक पक्ष आता है। जनसख्या से अनेक सामाजिक परिवर्तन होते है। जनसख्या के आकार के अत्यधिक बढ जाने से समाज मे स्वास्थ्य का स्तर नीचे गिरता है, और निर्धनता बढती है। जनसख्या की वृद्धि से सामुदायिक भावना का ह्रास होता है सामाजिक नियत्रण और पारिवारिक नियत्रण कम होता है, स्त्रियो की दशा तथा विवाह और परिवार की सस्था मे परिवर्तन दिखाई पडता है। जनसख्या की वृद्धि से सामाजिक मूल्यो मे भी परिवर्तन होता है। नगरो मे अत्यधिक भीड भाड से गन्दी बस्तियां विकसित होती है। जिनका लोगो के चरित्र और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है।

कार्लमार्क्स तथा उसके अनुयायी विचारको के अनुसार—सामाजिक परिवर्तन पूरी तरह से आर्थिक परिवर्तनो से ही निश्चित होते हैं। आर्थिक दशाओ मे

परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों को प्रवश्य ही प्रभावित करते हैं। किसी भी व्यक्ति अथवा समूह की आर्थिक स्थिति गिरने तथा उठने से उसके सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता है। अतः आर्थिक दशाओं का सामाजिक परिवर्तन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।

प्रत्येक मानव समाज पर भौगोलिक दशाओं का समाज के जीवन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। हंटिंगटन ने तो यहां तक कह दिया है कि जलवायु का परिवर्तन ही सभ्यताओं और संस्कृतियों के उत्थान पतन का एक मात्र कारण रहा है। बाढ़, भूचाल, अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ऋतु परिवर्तन आदि प्राकृतिक दशाओं का सामाजिक सम्बन्धों पर भारी प्रभाव पड़ता है और वे इनसे परिवर्तित होते हैं।

सामाजिक परिवर्तनों का कारण स्वयं मनुष्य का मनोविज्ञान (Psychological Factor) है। मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्तन प्रिय है। जीवन के प्रत्येक पक्ष में वह सदैव नई नई खोजें किया करता है, और नये नये अनुभवों का इच्छुक रहता है। इस प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक मानव समाज में रूढ़ियों, परम्पराओं, रीति रिवाज आदि में बराबर परिवर्तन हुआ करता है। नई नई रीतियां और प्रथायें बनती रहती हैं और पुरानी परम्पराओं का स्थान लेती जाती हैं। पुरानी परम्पराओं का सम्मान किया जाता है परन्तु समय की मांग के साथ साथ उनमें परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, वास्तव में परिवर्तन ही जीवन है और स्थिरता जीवन के स्वभाव के विरुद्ध है। जब समय आने पर भी परिवर्तन नहीं होते तो क्रान्तियां होती है, युद्ध होते हैं, महामारियां फैलती है और परिवर्तन किये जाते हैं।

उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त नवीन विचारधाराओं की उत्पत्ति भी परिवर्तन का मूल कारण रहा है। उदाहरण के लिए दहेज, जातिप्रथा, स्त्री शिक्षा आदि की ओर विचारों के परिवर्तन से भी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। वास्तव में अधिकतर सामाजिक क्रान्तियां नवीन विचार धाराओं के उदय होने के कारण होता है। महान् व्यक्तियों के समाज में प्रादुर्भाव से भी सामाजिक परिवर्तन हुआ करते हैं। जैसे भारत के विभाजन के कारण देश में जो सामाजिक परिवर्तन हुआ वह एक विश्व में केवल एक उदाहरण है। उसी प्रकार भारत में महात्मा गांधी के विचारों द्वारा, जैसे सत्याग्रह, अहिंसा, असहयोग, ... आन्दोलन के कारण विश्व में राजनैतिक स्वतन्त्रता की माँग ... राजनैतिक संघर्षों के तरीकों में विभिन्न रूप से परिवर्तन हुए। ...

को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन में भेद— समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के रूप में होते हैं। यह व्यवस्था जनरीतियों, रूढ़ियों, परम्पराओं प्रथाओं तथा फैशन आदि से चलती है। इनके परिवर्तन से सामाजिक सम्बन्ध उनके स्वरूप और व्यवहार प्रभावित होते हैं। दूसरी ओर संस्कृति कला, विज्ञान साहित्य, दर्शन तथा विचारों और मूल्यों आदि से सम्बन्धित परिवर्तन का समाज पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही पड़ता है और सामाजिक परिवर्तन से इनमें भी परिवर्तन हो सकते हैं। परन्तु एक में परिवर्तन होने से दूसरे में परिवर्तन होना अनिवार्य नहीं है। जैसे—संगीत कला के क्षेत्र में नई नई रागों, नृत्यों आदि के निकालने से सामाजिक परिवर्तनों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अतः सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी अभिन्न नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध समाज के जीवन से पृथक नहीं किये जा सकते। इस प्रकार सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में एक अन्तर उनके तत्वों को लेकर होता है। संस्कृति के तत्व ऐसे होते हैं कि समय के परिवर्तन के बाद भी उनको किसी रूप में जीवित रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—सभ्य समाजों में प्राचीन संस्कृतियों के अवशेषों को संग्रहालयों और अजायबघरों में सजाकर रखा जाता है। इस प्रकार हजारों वर्ष व्यतीत होने के पश्चात भी ये सांस्कृतिक उपकरण ज्यों के त्यों देखे जा सकते हैं। परन्तु सामाजिक परिवर्तनों के तत्वों के विषय में ऐसा नहीं होता। सामाजिक परिवर्तन से केवल सामाजिक सम्बन्ध बदल जाते हैं, नये सबंध होने के पश्चात् पुराने सम्बन्धों को किसी संग्रहालय में नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार एक मशीन अन्य दूसरे तैयार होती है, तो पुरानी मशीन सुरक्षित रखी जा सकती है परन्तु जब समाज में नई प्रथा या संस्था विकसित होती है, तब पुरानी प्रथा या संस्था का नामोनिशान नहीं रहता।

अतः सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से अधिक व्यापक है। सामाजिक परिवर्तन में केवल सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आते हैं जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन में कला, विज्ञान तथा औद्योगिक और विचार आदि क्षेत्रों में भी परिवर्तन आते हैं। इन सब के परिवर्तन का उसी सीमा तक महत्व होते हैं जिस सीमा तक ये सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। मैकाइवर ने ठीक ही लिखा है कि—'संस्कृति का कोई भी भाग सामाजिक व्यवस्था से असम्बद्ध नहीं रहता, परन्तु यह सत्य है कि इन शाखाओं में सामाजिक

व्यवस्था पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव डाले बिना परिवर्तन हो सकते है। अत समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से हम सांस्कृतिक परिवर्तन म उसी सीमा तक रूचि लेते हैं, जिस सीमा तक वह सामाजिक सगठन स निकलता है या उस पर प्रभाव डालता है। सामाजिक परिवर्तन से अलग हम उसम उसी के लिए रुचि नही लेते'।[1]

सामाजिक परिवर्तन के प्रतिरोध (Resistances or Restraints to Social Change)—Encyclopaedia Americana के अनुसार—"आविष्कार कोई भी नवीन अथवा उपयोगी यांत्रिक उपकरण अथवा वस्तु, प्रणाली, खोज या जड पदार्थ की रचना अथवा व्यवस्था है जो कि पहले ज्ञात अथवा प्रयुक्त नही होती है, अथवा वह किसी भी ज्ञान यत्र कला, पद्धति या व्यवस्था म कोई नई उन्नति है'। इसलिए कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। इसका आशय यही है कि प्रत्येक आविष्कार किसी न किसी रूप मे उपयोगी अवश्य ही होता है। आविष्कार का मानव समाज के परिवर्तन म महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यदि यह भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मनुष्य का समस्त सांस्कृतिक विकास आविष्कारो पर आधारित है। यदि हम आविष्कार करने की सामर्थ्यता न होती तो मानव आदि समाज से सभ्य समाज की स्थिति तक न पहुँच सकता। आविष्कारो ने मानव जीवन के भौतिक पक्ष को ही नही बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष को भी प्रभावित किया है। मनुष्य के रहन सहन म ही नही बल्कि उसकी कला, साहित्य धर्म मनोरंजन आदि के क्षेत्र मे भी नये नये आविष्कार होते रहते हैं, जिनसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। वास्तव म आविष्कार स्वय परिवर्तन के प्रतीक होते है। जिस समाज म आविष्कार बहुत कम होते हैं, उसम परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पडता है।

कुछ समाजो म आविष्कार बहुत कम होते है उनके मूल कारण निम्न है (1) आविष्कार के लिए परिश्रम के साथ साथ मानसिक योग्यता और बौद्धिक स्तर की उच्चता भी आवश्यक है। (2) आविष्कार तब होते हैं, जबकि उनकी माग होती है। (3) यदि किसी समूह के सदस्य नये आविष्कारो को स्वीकार करने

1 Of course no part of culture is totally unrelated to the social order but it remains true that change may occure in these branches without noticeably affecting the social system sociologically therefore, we are interested in culture change only to the extant that it arises from or has an affect on social Organization we are not interested in it for itself apart from social change (Human society P 623) —Davis

के लिए तत्पर नहीं होते। आवश्यकता इस बात की है कि समूह के सदस्य इन आविष्कारों को स्वीकार करें। उदाहरण के लिए भारत वर्ष में जब शुरू शुरू में रेल चली तब भारतीय जनता ने उसका बड़ा भारी विरोध किया। उस समय लोगों का विचार था कि इससे दूषित वायु उत्पन्न होगी। इसी प्रकार अन्य आविष्कारों का भी विरोध किया गया। आविष्कार केवल भौतिक क्षेत्र में ही नहीं होते, बल्कि जीवन के सभी गौण क्षेत्रों में भी उनका उतना ही महत्व होता है। उदाहरण के लिए भारत में वेश्यावृत्ति के विरुद्ध कानून का एक वैधानिक आविष्कार था, परन्तु जनता ने इसको अभी तक पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार जब समाज के सदस्य ही नये नये सामाजिक विचारों, अनुसंधानों और आविष्कारों को ग्रहण करने के लिए तत्पर नहीं होंगे, तब तक सामाजिक परिवर्तन में बाधा पड़ती ही रहेगी।

कुछ सामाजिक परिस्थितियां भी सामाजिक परिवर्तन में प्रतिरोध उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए—भारत में जाति प्रथा अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों को रोकती है। रूढ़ियां सामाजिक परिवर्तनों का प्रतिरोध करती है। सामाजिक परिवर्तन में कुछ राजनतिक परिस्थितियां भी परिवर्तन का प्रतिरोध उत्पन्न करती है। उदाहरणार्थ निरकुंश राजतन्त्र में राजा लोग परिवर्तन नहीं होने देना चाहते थे। भारत में भी राजाओं और जमींदारों ने जनता में समानता लाने वाले अनेक परिवर्तनों का घोर विरोध किया था। इनके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन में सबसे बड़ी बाधा आर्थिक परिस्थितियां भी अपना विशेष महत्व रखती है। निर्धनता भी सामाजिक परिवर्तन में सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हुई है।

सामाजिक परिवर्तन के परिणाम— सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव से सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष का रूप परिवर्तित होता रहता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनतिक सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में नई नई संस्थायें और समितियाँ बनती बिगड़ती रहती है। परिवार विवाह राज्य धर्म सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा व्यवस्था आर्थिक व्यवस्था तथा सामाजिक ढांचे का रूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए आदि काल से लेकर आज तक जो भी अन्तर दिखाई पड़ता है, यह सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है। मैकाइवर और पेज ने उचित ही लिखा है कि "सामाजिक परिवर्तन आधुनिक जगत के हृदय में निवास करता है"।[1]

औद्योगिकरण से नगरीकरण बढ़ रहा है और नागरीकरण से परिवार, जाति व्यवस्था, सामाजिक सगठन, धर्म विवाह आदि में बराबर परिवर्तन दिखाई पड़ता है। जहां औद्योगिक और जनसंख्या के कारकों से देश में बराबर परिवर्तन हो रहा

है, वहा साम्यवाद और समाजवाद आदि नवीन विचारधाराओं तथा पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से मूल्यों में परिवर्तन आ रहा है और संस्कृति का रूप बदल रहा है। इस सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव सामाजिक संस्थाओं और समितियों पर भी पड रहा है पारिवारिक विघटन इसका एक ज्वलंत उदाहरण रहा है।

(1) **कारखाना पद्धति का उदय**—उद्योगों में मशीनों के प्रयोग का सबसे मुख्य प्रभाव व्यक्तिगत उत्पादन के स्थान पर कारखाना पद्धति (Factory System) का उदय है। मशीनों के आविष्कार से ही आज इतने बड़े बड़े विशाल कारखानें बन गये हैं, जिनमें हजारों लोग काम करते हैं।

(2) **नागरीकरण**—औद्योगिकरण तथा कारखानों के उदय से नागरीकरण हुआ और बड़े बड़े नगर बन गये। प्रारम्भ में गावों से आने वाले हजारों श्रमिक कारखानों के आस पास रहने लगे फिर उनके लिए दुकानें खुली, बाजार बने स्कूल खुले फिर होटल कालेज, दफ्तर, और व्यापारिक कम्पनियां बनी और इस प्रकार जहां जहां कारखानें थे वहां पर बड़े बड़े नगर बस गये। भारत में जमशेदपुर, कानपुर, मोदीनगर, अहमदाबाद आदि नगरों का उद्गम कारखानों से ही हुआ है।

(3) **नये वर्गों की उत्पत्ति**—औद्योगिकरण और नागरीकरण से समाज का ढांचा बदल गया। सामाजिक संगठन वर्गों में विभक्त हो गया जिनमें परस्पर भार प्रतिद्वंद्विता दिखलाई पड़ने लगी। पूंजीपति और श्रमिक वर्ग में नित नये झगड़े बढ़ने लगे।

(4) **नई विचारधाराओं का प्रादुर्भाव**—साम्यवाद और समाजवाद की विचारधाराओं के प्रचार के साथ साथ व्यापारिक संघ आन्दोलनों (Trade union movements) को भी धूम मचने लगी। नित प्रतिदिन अधिकारों की मांग को लेकर तालेबंदी, हड़तालें प्रारम्भ हो गई।

(5) **मूल्यों में परिवर्तन**—आर्थिक सामाओं के विस्तार, राज्यों के कार्य के विस्तार, नय वर्गों के निर्माण, लोकतन्त्र के विस्तार, शिक्षा के प्रचार, नागरीकरण, नई विचार धाराओं के प्रसार द्वारा मानव जीवन के मूल्यों में आमूल परिवर्तन हुआ है। गुणों के स्थान पर सम्पत्ति को महत्व दिया जाने लगा है। विचारों के स्थान पर बाह्य तड़क भड़क को अधिक महत्व दिया जाने लगा दिखावट और बनावट के सामने संस्कृति के मौलिक तत्वों को भुलाया जा रहा है। ग्रीन ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' में ठीक ही लिखा है, '[1]

1 Social change lies at the heart of the modern

वतन सामाजिक मूल्यों और नैतिक नियमों को प्रभावित करते हैं" ।[1]

इसके अतिरिक्त सामुदायिक भावना की कमी, बीमारियों की संख्या में वृद्धि, पारिवारिक नियन्त्रण का अभाव नैतिकता का निम्नस्तर, अपराधों की संख्या में वृद्धि, सामाजिक विघटन आदि प्रभाव दिखाई पड़ते हैं।

सामाजिक विघटन (Social disorganization)—समाज एक विशाल व्यवस्था है। इस व्यवस्था का संगठन उसके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध है। समाज के अवयव संस्थायें समितियां और समूह होते हैं। समाज को संगठित तभी कहा जा सकता है, जबकि ये भिन्न भिन्न अवयव भली प्रकार अपना कार्य करते चलें। जिस प्रकार मशीन बनी होती है तथा उसके पुर्जे एक दूसरे से समन्वय रख कर बराबर कार्य करते रहते हैं उसी प्रकार संगठित समाज में विभिन्न इकाइयां सुसंगठित रूप से काम करती रहती हैं। मानवीय शरीर भी संगठन का एक उत्तम उदाहरण है, जिसमें शरीर के विभिन्न अंग अपना अपना कार्य सुचारू रूप से करते रहते हैं, जब तक मनुष्य स्वस्थ्य रहता है। मनुष्य का स्वास्थ्य शारीरिक संगठन का देन है। संगठन में विभिन्न भागों का सतुलन बना रहता है। यदि शहर का जीवन पूर्ण रूप से संगठित होता है, समाज की विभिन्न संस्थायें अपने अपने नियमित कार्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग रखती हुई क्रियाशील रहती हैं, तब ऐसे समाज को संगठित समाज कहा जाता है। सामाजिक संगठन में व्यक्ति और समूहों के साथ साथ समितियाँ और संस्थायें भी सम्मिलित रहती हैं। रूटर और हार्ट के अनुसार—'सामाजिक संगठन से अभिप्राय सांस्कृतिक समितियों की पूर्णता और समूह की विशेषता असंगठित क्रियाओं के समूह सहित उसके परस्पर सम्बन्धों से है"।[2]

सामाजिक संगठन अस्तव्यस्त हो जाने से यह समन्वय बिखर जाता है। अर्नेस्ट जो म के शब्दों में— सामाजिक संगठन वह व्यवस्था है जिससे कि समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे से तथा पूर्ण समाज के साथ सार्थक ढंग से सम्बन्धित

---

1 Technological change affects social values and moral norms' (Sociology p p 522–523)

—Green

2 By social organization is meant the totally of cultural institutions and their inter relationship together with the body of the unorganized activities (Introduction to Sociology, P 143)

—Reuter & Hart

त हैं' ।[1]

सामाजिक संगठन ही वह व्यवस्था है जो कार्य को सुचारु रूप से बनाये रखता है। इलियट और मेरिल के अनुसार—"सामाजिक संगठन अस्तित्व की एक अवस्था है एक ऐसी दशा जिसमें कि एक समाज में विभिन्न संस्थायें अपने स्वीकृत उद्देश्यों के अनुसार कार्य कर रही हैं" ।[2]

सामाजिक संगठन के विपरीत दशा का नाम ही सामाजिक विघटन (Social disorganization) उस सामाजिक अवस्था का नाम है, जब समाज के विभिन्न अंग अपने निश्चित कार्यों में असफल हो जाते हैं। उनके परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं उनमें सहयोग समाप्त हो जाता है, संतुलन बिगड़ जाता है, जिससे समाज के नियंत्रण के बन्धन ढीले पड़ जाय, या अनियंत्रित हो जाय, तब सामाजिक विघटन की अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। तब सामाजिक जीवन में उत्साह की अपेक्षा निराशा उदासीनता आदि के तत्व दिखाई देने से जीवन विशृंखलित हो जाता है। जिसके कारण सामाजिक बीमारियां उग्र रूप धारण कर लेती है। समाज के संगठन में समय समय पर सुधार और नवीनता की आवश्यकता होती रहती है, जिसके अभाव में विघटन होने लगता है और जनता उपद्रव, दंगा आदि करने को तैयार हो जाती है। बेरोजगारी, परिवारों का विघटन, निर्धनता, जातीय संघर्ष, अपराध, एवं आर्थिक समस्याएं आदि सामाजिक विघटन के अनुपम उदाहरण देखने को मिलते हैं।

पारिवारिक विघटन (Family disorganization)—इलियट और मेरिल के अनुसार—"सर्वाधिक विस्तृत अर्थों में पारिवारिक विघटन अनेक प्रकार के परिवारों में से किसी में भी किसी प्रकार का असामंजस्य पूर्ण कार्य सम्मिलित करता हुआ समझा जा सकता है" ।[3]

---

1 Social organization is the system by which the parts of society are related to each other and to the whol- society in a meaningful way (Basic Sociological Principles P 195)

—E Jones

2. Social organization ■ a state of being a condition in which the various institution in a society are functioning in accordance with their recognized or implied purposes
(Social Disorganization ■ 4) —Elliott & Merrill

3 In the broadest sense family disorganization may be thought to include any sort of non harmonious functions within any of several types of family (Social organization P 3>2)

—Elliott & Merrill

पारिवारिक विघटन परिवार का विघटन है। जिसके कारण परिवार के सदस्यों मे सामजस्य का टूट ना होता है। (Family disorganization is the disturbation of the harmony among family members)

फोलसम ने पारिवारिक विघटन के मुख्य चार कारक बताये हैं—

(i) परिस्थिति सम्बन्धी या गर व्यक्तित्व कारक (Circumstantial or nonpersonality factors)—जैसे बुरा स्वास्थ्य, बुरी आर्थिक परिस्थितियां सम्बन्धियो का हस्तक्षेप अवांछित सतान आदि।

(ii) व्यक्तित्व के दोष (Personality defects)—पति पत्नी मे किसी प्रकार का मानसिक विकार नपुसकता, बाभपन, अस्वाभाविक यौन प्रवृतियां या व्यक्तित्व की विकृतियों का होना आदि।

(iii) व्यक्ति व विभिन्नतायें (Personality Differentials)—पति–पत्नी म बौद्धिक सामाजिक आर्थिक कलात्मक पृष्ठभूमि, धार्मिक तथा वेदना शक्ति सम्बन्धी अन्तर का होना।

(iv) असगत काय (Incompatible roles) नराश्य (Frustration) आदि का होना। कूगर ने पारिवारिक विघटन का प्रमुख कारण तनाव (Tensions) बतलाया है। इलियट और मरिल ने लिखा है – 'पारिवारिक तनाव से हमारा तात्पय किसी भी सघष की परिस्थिति से है जो कि दो सदस्यो, विशेषत पति पत्नी मे विरोधी प्रवतियां उत्पन्न करता है।[1]

समाज और साम जस्य (Society and Adjustment)—व्यक्ति की प्रवतियां कुछ समाज के लिए लाभदायक होती है और कुछ हानिकारक अत सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति की अशुभ प्रवतियो पर नियन्त्रण करता है जिससे समाज विरोधी काय न कर सके। पॉल एच लेण्डिस के अनुसार—"सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक प्रक्रियाओं का एक क्रम हैं जिनसे व्यक्ति समूह के प्रति जिम्मेदार बनाया जाता है जिससे सामाजिक सगठन बनाया जाता है और स्थिर रखा जाता है, जिससे सामाजीकरण द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है"। अत उन व्यवस्थाओ साधनो तथा प्रक्रियाओ को सामाजिक नियन्त्रण कहा जाता है, जिनमे समाज म उचित व्यवस्था बनी रहती है और सामाजिक जीवन सुचारू रूप से चलता है। इनमे शिक्षा परम्परा विधि कानून प्रथा कला जनमत आदि

1 By a family tension we mean any conflict situation which generates opposing attitudes between two members particularly between husband and wife (Social Disorganization P 385)
—Elliott & Merrill

शामिल किये जाते हैं। सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का समाजीकरण करना है। असामाजीकृत मनुष्य पशु के समान होता है। उसको मनुष्य बनाने के लिए समाजीकरण की आवश्यकता होती है। सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा समाज में प्राचीन रूढियों परम्पराओं, प्रथाओं और व्यवहार के तौर तरीकों को बनाये रखा जाता है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण का एक उद्देश्य समाज की प्राचीन व्यवस्था को बनाये रखना है। सामाजिक नियन्त्रण टूटने से सामाजिक व्यवस्था भी टूटने लगती है। समाज के हर समूह में दृढता बनाये रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण होना अति आवश्यक है।

सामाजिक नियन्त्रण और योजना—

यहां प्रश्न यह है कि मनुष्य कौन से आदर्श को पूरा कर सकता है ? क्या वह अपराध को मिटा सकता है। यह बहुत कुछ हमारे नेताओं पर और सामाजिक नियन्त्रण पर निर्भर करता है।

नियन्त्रण के प्रति वास्तविक दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता—

हमको काल्पनिक और अधिक महत्वकांक्षाओं का शिकार होने की आवश्यकता नहीं। समाज की वास्तविक परिस्थितियों में जितना नियन्त्रण किया जा सकता है उसके लिए हमको प्रयत्नशील रहना चाहिये। जैसे हम युद्ध का अन्त नहीं कर सकते हमको केवल उसके खतरे को कम करना चाहिये।

सामूहिक जीवन के प्राथमिक तथ्य सामाजिक जीवन के ऐसे तथ्यों में से है—मनुष्य का प्राकृतिक अवस्थाओं पर नियन्त्रण—नदियों की धारओं को बदलना, बांध बनाना, जंगलों को मिटाना और बनाना आदि कार्यों के करने से मनुष्य ने बहुत कुछ मात्रा में प्रकृति पर नियन्त्रण कर लिया है।

मनुष्य की वंशानुगत प्रकृति में बहुत ही मन्द गति से परिवर्तन हो रहा है न मालूम उच्चतम व्यक्ति का कब विकास हो। परन्तु हमारे वंशानुगत विकास के ज्ञान में बहुत प्रगति हुई है। मनुष्य का विकास वंशानुगत ज्ञान के कारण करना अभी सम्भव नहीं है अभी परिवार नियोजन भी ज्यादा मात्रा में सफल नहीं हुआ है और लोग इसे स्वेच्छा से न अपना रहे हैं।

आज हमारे लिए अपनी संस्कृति का भी नियन्त्रण करना मुश्किल हो गया है। हम अभी आविष्कारों को भी पूरी तरह से नियन्त्रित नहीं कर सके हैं। यदि एक जंगली के हाथ में हथियार हो तो हम उसका विश्वास नहीं कर सकते। ठी उसी तरह से एक सभ्य मनुष्य के पास या एक राष्ट्र के पास अणु बम्ब हो

हम विश्वास नहीं कर सकते।

इन सब बातों पर विचार करने से ऐसे लगता है कि जो कुछ हम कर रहे हैं उससे हमारा भविष्य ठीक हो इसमें मदद हो सकता है। फिर भी हम हताश की आवश्यकता नहीं। हम अपने ज्ञान का ठीक उपयोग यदि करें तो सफल हो सकते हैं। इसके लिये मनुष्य, संस्कृति और समूह के परिवर्तन में एक समायोजन स्थापित करना आवश्यक है। यह हमको जान लेना चाहिये कि मनुष्य ऐसा कर सकता है क्योंकि हजारों वर्षों से यह वातावरण के साथ समायोजन करता आया है। इस समायोजन को करने के लिये हमको विभिन्न स्तर पर सुधार कार्य करना चाहिये।

सामाजिक योजना—

आज सामाजिक योजनाओं पर अधिक बल दिया जाता है परन्तु सामाजिक योजना और सामाजिक सुधार में भेद है, जैसे सुधार में उपचार और दोष निवारण पर बल दिया जाता है जब कि योजना एक निश्चित समय में कोई उद्देश्य पूरा करने की योजना है जैसे—5 साल में देश खाद्य में आत्मनिर्भर हो जाय इसके लिये योजना बनाई जा सकती है। जबकि सुधार खेती बाड़ी के तौर तरीकों को ठीक कर किया जा सकता है।

योजना की आवश्यक अवस्थायें हैं—

(1) आधुनिक समाज, जिसमें आर्थिक व्यवस्था मुद्रा के ऊपर आधारित हो, शहरी व्यवस्था हो, जिसमें वैज्ञानिक वर्ग हो और प्रशासन ठीक हो।

(2) सूचना ग्रहण करने व उसके विश्लेषण की व्यवस्था हो।

(3) जनता योजना बद्ध विकास के पक्ष में हो।

(4) आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से प्रगतिशील नेतृत्व हो।

बहुत से लोग योजनाओं के विरुद्ध हैं ऐसा समझा जाता है कि प्रजातन्त्र में योजनाबद्ध कार्य कर हो नहीं सकता फिर भी देशों में योजनायें बनाई जा रही हैं। यदि तरह तरह की योजनायें एक साथ चल रही हों तो उसमें समायोजन स्थापित करना आवश्यक है।

9640
